विशिष्टाद्वैत-वेदान्त में प्रमेय-मीमांसा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल्. उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता

श्याम सुन्दर तिवारी

एम. ए. (जे. आर. एफ.)

पर्यवेक्षक

डॉ. रामकिशोर शास्त्री

रीडर
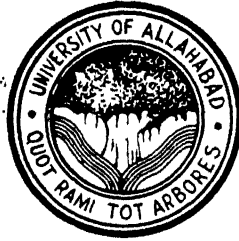
संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

संवत् 2054 वैक्रमीय

****

प्राक्कथन

****

अनादिकाल से मानव–मस्तिष्क इस दृश्यमान प्रपञ्च के रहस्यपूर्ण तथ्यों को जानने के निमित्त जिज्ञासु रहा है । इसी जिज्ञासा ने मानव–इतिहास में नैकविध आविष्कारों को जन्म दिया है, जिनमें से एक है– 'दर्शन'। भारतभूमि में पुष्पित एवम् पल्लवित होने वाले जितने भी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, चाहे वे आस्तिक हों अथवा नास्तिक, प्राचीन हों अथवा अर्वाचीन, सभी का समावेश भारतीय दर्शन के अन्तर्गत किया जाता है । यह भारतीय दर्शन की अपनी व्यापक दृष्टि का उदाहरण है । इसी क्रम में भारतीय दर्शन के षड्दर्शन के अन्तर्गत परिगणित 'वेदान्त दर्शन' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वेदान्त साहित्य में वेदों का निर्णयार्थ या निश्चयार्थ वर्णित है । वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का अनुत्तम स्थान है, जिसके प्रधान व्याख्याकार आचार्य रामानुज हैं । विशिष्टाद्वैत दर्शन श्रीवैष्णव या भागवत मत पर आधृत है ।

यद्यपि विशिष्टाद्वैत वेदान्त पर अनेकानेक लोगों ने अत्यन्त महनीय शोधकार्य एवं पुस्तकें लिखा है, किन्तु विशिष्टाद्वैत की 'प्रमेय–मीमांसा' पर कोई भी शोध कार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है । प्रस्तुत 'शोध–प्रबन्ध' इसी रिक्तता की पूर्ति हेतु किया गया एक लघु प्रयास है, जिसमें मैने प्रमेय का तात्पर्य बताते हुए सभी प्रमेयों की समीक्षा एवं विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । 'प्रमेय–मीमांसा' के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत के सभी तत्वमीमांसीय सिद्धान्त समाहित हैं । अतः इससे स्पष्ट है कि विशिष्टाद्वैत की तत्वमीमांसा उनके प्रमेयों पर ही आधारित है ।

''विशिष्टाद्वैत वेदान्त में"प्रमेय–मीमांसा'' विषय पर शोध करने की सत्प्रेरणा मुझे मेरे

गुरुवर्य, भारतीय दर्शन एवम् संस्कृत--साहित्य के विद्वान् श्रद्धेय डा0 रामकिशोर शास्त्री, रीडर, संस्कृत–विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, से मिली, जिनके विद्वत्तापूर्ण पर्यवेक्षण में यह शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत कर पा रहा हूँ । विश्वविद्यालयीय शिक्षा के शैशव काल से ही आदरणीय गुरुवर्य, पुत्रवत् स्नेह के साथ, यथावसर उचित सलाह एवं निर्देश देते हुए मेरा उत्साहवर्धन करते रहे हैं । अतः तद्धेतु किसी प्रकार का कृतज्ञता ज्ञापन निश्चय ही उस सहज स्नेह की गुरुता का कम ही करेगा । परम पूजनीय गुरुदेव ने प्रस्तुत शोध विषय की दुरूहता को दृष्टिगत करते हुए भी, कदाचित् दर्शन विषय में मेरी अभिरुचि तथा विद्यालयीय एवं विश्वविद्यालयीय शैक्षणिक योग्यताओं को देखकर ही मुझे यह विषय प्रदान करने की कृपा की है । एतदर्थ मैं उनसे अनृण नहीं हो सकता ।

गुरुदेव की कृपा एवं अपने परिश्रम से शोध विषय को समझने तथा उसको क्रमिक रूप से निरूपित करने का प्रयास मैनें किया है । मेरा प्रयास कितना सार्थक एवं सफल है यह तो वे सुधीजन ही समझ सकते हैं, जिनके समक्ष यह शोध–प्रबन्ध सादर प्रस्तुत है ।

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की वर्तमान अध्यक्षा प्रो0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव को भी मै सादर नमन करता हूँ, जिनका स्नेह हमें परास्नातक कक्षा से ही मिलता रहा है । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति एवं संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव एवम् प्रो0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय, पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग के ही भूतपूर्व रीडर गुरुवर्य पं0 राजकुमार शुक्ल जी के प्रति भी मैं सादर नमन समर्पित करता हूँ, जिनके उत्साहवर्धन एवम् विद्वत्तापूर्ण सुझावों से मैं अध्ययन काल के दौरान सदा लाभान्वित होता रहा हूँ । संस्कृत–विभाग के गुरुजनों- प्रो0 चन्द्रभूषण मिश्र, डॉ0 कौशल किशोर श्रीवास्तव तथा डॉ0 शंकर दयाल द्विवेदी का भी मैं आभारी हूँ, जिनके सान्निध्य एवम् सत्परामर्शों के कारण ही आज मैं यह 'शोध–प्रबन्ध' प्रस्तुत कर पा रहा हूँ ।

मातृऋण एवं पितृऋण से कोई भी व्यक्ति अनृण नहीं हो सकता । जिस ममतामयी माँ श्रीमती शृङ्गारी देवी एवं जिन वात्सल्यागार पिता पं0 श्री अक्षयवर नाथ तिवारी के लाड–प्यार में जन्म से लेकर अद्यावधि पला–बढ़ा और जिन्होंने जीवन के अनेक झंझावातों को सहन करते हुए न केवल मेरी खुशी में ही अपने सुखों का अनुभव किया, अपितु उच्च अध्ययन के लिए सदैव सत्प्रेरणा प्रदान किया, उन माता–पिता जी से तो जन्म–जन्मान्तर ऋण मुक्त होना असम्भव है । अपने अग्रज श्री प्रेम सागर तिवारी, डिप्टी रजिस्ट्रार को–आपरेटिव, जिनके स्नेहिल सान्निध्य एवम् कठोर अनुशासन में रहकर मै अद्यावधि परिपुष्ट हुआ तथा जिन्होंने मुझे बचपन से लेकर अब तक अध्ययन हेतु समस्त साधन उपलब्ध कराकर भ्रातृत्व के साथ–साथ पितृत्व का भी निर्वाह किया, उन महनीय भ्रातृचरण को मैं सादर नमन करता हूँ तथा उनके प्रति कृतज्ञता के दो शब्द व्यक्त करना अपनी धृष्टता समझता हूँ । अपने पितृव्य श्री जयशंकर तिवारी 'ए0आर0टी0ओ0' उ0प्र0 से भी ऋणमुक्त होना असम्भव है, जिनके आशीष एवं सत्प्रेरणा से मैं शैक्षणिक जीवन के साथ–साथ व्यक्तिगत जीवन की भी तमाम समस्याओं को सुलझाता रहा हूँ । इसी के साथ मै अपनी भ्रातृजाया श्रीमती विभा तिवारी एवम् पाणिगृहीती (धर्मपत्नी) श्रीमती मीरा तिवारी को भी धन्यवाद देने की औपचारिकता का निर्वहन कर रहा हूँ, जो मुझे कर्तव्यपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती रही हैं । अपनी भ्रातृजाया के पिता श्री रामबरन पाण्डेय एवं माता श्रीमती प्रभावती देवी को भी मैं सादर नमन करता हूँ, जिन्होंने उच्च शिक्षा के दौरान मुझे पारिवारिक वातावरण प्रदान किया तथा जो शोध कार्य के प्रति प्रेरित करने के उद्देश्य से शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत करने से पहले ही मुझे 'डा0 साहब' कह कर सम्बोधित करते थे ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के पूर्ण होने में उत्साहवर्धन एवं प्रेरणा प्रदान करने वाले प्रख्यात चिकित्सक डा0 एस0पी0 पाण्डेय, मेडिकल आफिसर होम्योपैथी, इतिहास के विद्वान्

डा0 रामवर्ण शुक्ल, प्रवक्ता इलाहाबाद डिग्री कालेज, डा0 व्यासजी द्विवेदी, रीडर, सी0एम0पी0 डिग्री कालेज, पं0 शालिग्राम मिश्र, प्रधानाचार्य, नेहरू इण्टर कालेज, रोही, श्री शिवश्याम पाण्डेय, प्रधानाचार्य, ऋषिकुल उ0मा0वि0 राजापुर. इलाहाबाद, डा0 विजय प्रकाश श्रीवास्तव, डायरेक्टर सी0आई0एस0 कोचिंग इन्स्टीट्यूट इलाहाबाद, श्री हरिशंकर दुबे, उपजिलाधिकारी, संस्कृत साहित्य के विद्वान् एवम् अग्रजतुल्य डा0 अरविन्द मिश्र, प्रवक्ता, संस्कृत विभाग जी0डी0 बिनानी पी0जी0 कालेज, मीरजापुर, तर्कशास्त्र के विद्वान् श्री अविनाश तिवारी, डायरेक्टर, इलाहाबाद कोचिंग सेंटर, श्री रविराज प्रताप मल्ल, व्यापारकर अधिकारी, श्री अनिल कुमार पाण्डेय, पुलिस उपनिरीक्षक के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ ।
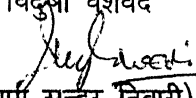
माता–पिता एवम् गुरुजनों के अतिरिक्त इस शोध–प्रबन्ध के पूर्ण होने में विद्वान् सहपाठी एवम् अग्रज का दायित्व–निर्वहन करने वाले श्री शिवाकान्त द्विवेदी, खण्ड विकास अधिकारी ने तो अप्रतिम सहयोग दिया है। इसके लिए मै उनके प्रति आभार प्रकट करना अपना प्राथमिक कर्तव्य समझता हूँ । उनके अतिरिक्त अग्रजतुल्य श्री नीरज कुमार शुक्ल, पी0सी0एस0 एवं सुहृद्गण श्री मनीष पाण्डेय, वरिष्ठ शोध अध्येता, श्री सुरेश चन्द्र पाण्डेय, सहायक अध्यापक, श्री धर्मेन्द्र कुमार, जिला बेसिक शिक्षाधिकारी, श्री जगदीश त्रिपाठी, जिला पंचायत राज अधिकारी तथा अनुजवत् श्री महेन्द्र यादव, श्री उमेश मिश्र, पी0सी0एस0, श्री सतीश दूबे, श्री निर्मल कुमार द्विवेदी, खण्ड विकास अधिकारी, श्री श्यामाकान्त द्विवेदी के अनन्य सहयोग का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ ।

'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' को भी मै हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिसके द्वारा शोध–वृत्ति के रूप में दी गई आर्थिक सहायता से मैं पुस्तकें खरीदकर एवम् विभिन्न

विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में जाकर शोध सम्बन्धी सामग्री समायोजित कर सका हूँ ।

अन्त में टङ्.कणकर्त्ता श्री राज कुमार गुप्ता को शोध–प्रबन्ध के टङ्.कणकार्य को यथासम्भव शुद्ध रूप में सम्पन्न करने के लिए साधुवाद देता हूँ तथा साथ ही अन्य समस्त जाने–अनजाने मित्रजनों को यथोचित् धन्यवाद ज्ञापित करता हुआ मै, प्रकृत शोध–प्रबन्ध को नीर–क्षीर विवेक हेतु विद्वद्समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करने का कर्तव्य निर्वाह कर रहा हूँ ।

मकरसङ्क्रान्ति
संवत् 2054 वैक्रमीय

विदुषां वशंवद
(श्याम सुन्दर तिवारी)

****

विषयानुक्रमणिका

****

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
	प्राक्कथन	1 – 5
प्रथम	विशिष्टाद्वैत वेदान्त–उद्‌भव और विकास	1 – 46
	1. दर्शन का अर्थ	2
	2. दर्शन की उत्पत्ति	3
	3. भारतीय दर्शन का स्वरूप	5
	(क) नास्तिक दर्शन	7
	(ख) आस्तिक दर्शन	10
	4. वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय	16
	(क) अद्वैत वेदान्त	17
	(ख) वेदान्त के अन्य वैष्णवसम्प्रदाय	19
	5. विशिष्टद्वैत का तात्पर्य	20
	6. विशिष्टाद्वैत दर्शन का उद्‌भव	21
	(क) वैदिक वाड्.मय में विशिष्टाद्वैत	21
	(ख) पुराणों में विशिष्टाद्वैत	30
	(ग) इतिहास ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत	33
	(घ) आगम साहित्य में विशिष्टाद्वैत	35
	(ड.) आलवार साहित्य में विशिष्टाद्वैत	36
	7. विशिष्टाद्वैत दर्शन का विकास एवम् आचार्य परम्परा	36
	(क) आचार्य नाथमुनि	36
	(ख) आचार्य यामुन	37
	(ग) आचार्य रामानुज एवम् अन्य	40
द्वितीय	विशिष्टाद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्य	47 – 78
	1. प्रमाण	48

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या	
	(क) प्रत्यक्ष प्रमाण	49	
	1. प्रत्यक्ष के भेद	50	
	2. स्मृति का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव	53	
	3. प्रत्यभिज्ञादि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव	54	
	(ख) अनुमान प्रमाण	55	
	1. अनुमान के भेद	59	
	2. अनुमान के पञ्चावयव	59	
	3. हेत्वाभास निरूपण	61	
	4. उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव	62	
	5. अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव	62	
	(ग) शब्द प्रमाण	63	
	(1) सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता	64	
	(2) स्मृत्यादि की प्रामाणिकता	68	
	(3) पुराणादि की प्रामाणिकता	69	
	(4) सहस्रगीति एवम् श्रीभाष्य की प्रामाणिकता	71	
	2. प्रमेय	71	
	1. प्रमेय क्या है ?	71	
	2. प्रमेयों का वर्गीकरण	73	
	(क) द्रव्य	75	
	1. जडद्रव्य	76	
	2. अजडद्रव्य	76	
	(ख) अद्रव्य	76	
तृतीय	जडद्रव्य – निरूपण	79	98
	1. प्रकृति का स्वरूप	80	
	(क) महत्तत्व	82	
	1. सात्विक अहङ्कार	82	
	(अ) इन्द्रिय–निरूपण	82	
	1. ज्ञानेन्द्रियाँ	83	
	2. कर्मेन्द्रियाँ	85	

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
	2. राजस अहङ्.कार	86
	3. तामस अहङ्.कार	86
	(अ) पञ्चतन्मात्राएँ एवम् पञ्चमहाभूत	87
	1. आकाश	87
	2. वायु	87
	3. तेज	87
	4. जल	88
	5. पृथिवी	89
	(ख) पञ्चीकरण प्रक्रिया का निरूपण	92
	(ग) सृष्टि का कार्यकारणभाव–निरूपण	93
	2. काल का स्वरूप	94
	(क) काल का नित्यत्व	95
	(ख) काल के भेद	96
	(ग) काल का प्रत्यक्षत्व	97
चतुर्थ	अजडद्रव्य–निरूपण	99 – 125
	1. प्रत्यक् द्रव्य	100
	(क) जीव	100
	1. जीव का स्वरूप	100
	2. जीव का देहेन्द्रियादि से भिन्नत्व	103
	3. जीव का अणुत्व	103
	4. जीव का नित्यत्व	104
	5. जीव का नानात्व	104
	6. जीव के प्रकार	105
	(ख) ईश्वर	109
	1. ईश्वर का स्वरूप	109
	2. ईश्वर की सर्वोच्चता	111
	3. ईश्वर की सगुणता	112
	4. ईश्वर के विविधरूप	114

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
	2. पराक्द्रव्य	117
	(क) धर्मभूत ज्ञान	117
	1. ज्ञान की नित्यता	118
	2. ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य एवम् स्वयंप्रकाशत्व	119
	3. धर्मभूत ज्ञान की विभिन्न अवस्थाएँ	119
	4. ज्ञान की मोक्षसाधकता	120
	(ख) नित्यविभूति	120
	1. नित्यविभूति का योगत्व	121
	2. नित्यविभूति की दिव्यता	122
पञ्चम	<u>अद्रव्य–निरूपण</u>	126 – 145
	1. त्रिगुण निरूपण	127
	(क) सत्त्वगुण	127
	(ख) रजोगुण	128
	(ग) तमोगुण	128
	2. पञ्चशब्दादि विषय निरूपण	131
	(क) शब्द	131
	(ख) स्पर्श	135
	(ग) रूप	136
	(घ) रस	137
	(ङ.) गन्ध	138
	3. संयोग निरूपण	141
	4. शक्ति निरूपण	143
	5. विशिष्टाद्वैत सम्मत दशगुणों में अन्यगुणों का अन्तर्भाव	144
षष्ठ	<u>उपसंहार</u>	146 – 153
	<u>अधीतग्रन्थमाला</u>	154 – 157

****

प्रथम अध्याय

विशिष्टाद्वैत वेदान्त – उद्भव और विकास

****

1. दर्शन का तात्पर्य
2. दर्शन की उत्पत्ति
3. भारतीय दर्शन का स्वरूप
   (क) नास्तिक दर्शन
   (ख) आस्तिक दर्शन
4. वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय
   (क) अद्वैत वेदान्त
   (ख) वेदान्त के अन्य वैष्णव सम्प्रदाय
5. विशिष्टाद्वैत (वेदान्त दर्शन) का तात्पर्य
6. विशिष्टाद्वैत दर्शन का उद्भव
   (क) वैदिक वाङ्.मय में विशिष्टाद्वैत
   (ख) पुराणों में विशिष्टाद्वैत
   (ग) इतिहास-ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत
   (घ) आगम-साहित्य में विशिष्टाद्वैत
   (ङ.) आलवार-साहित्य में विशिष्टाद्वैत
7. विशिष्टाद्वैत दर्शन का विकास एवं आचार्य परम्परा
   (क) आचार्य नाथमुनि
   (ख) आचार्य यामुन
   (ग) आचार्य रामानुज एवम् अन्य

दर्शन का अर्थ

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। फलतः उसके सामने फैला विशाल विश्व तथा उसका अपना जीवन उसके समक्ष कुछ ऐसी गुत्थियाँ, कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित करते हैं जो जीवन के किसी विशेष पहलू से सम्बन्धित नहीं होते तथा जिनपर चिन्तन करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। 'दर्शन' मनुष्य के इसी प्रकार के चिन्तन की उपज है। विश्व तथा जीवन के सम्बन्ध में ऐसे ही व्यापक ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासावश मनुष्य दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि दर्शन विश्व तथा जीवन को उसकी समग्रता में समझने का एक बौद्धिक प्रयास है।

'दर्शन' शब्द 'दृशिर्'प्रेक्षणे धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय लगकर बना है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है –'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से देखा जाय, वह दर्शन है। भाव अर्थ में दर्शन का तात्पर्य 'दृश्यते इति दर्शनम्' अर्थात् जो देखा जाय, वह दर्शन है। इस प्रकार जो देखा जाय तथा जिसके द्वारा देखा जाय वह दोनों ही दर्शन है। अमरकोश में दर्शन का अर्थ अवलोकन या ईक्षण किया गया है।[1]

भारतीय दर्शन में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग केवल तत्वदृष्टि या तत्वसाक्षात्कार के करणभूत–प्रज्ञा चक्षु के अर्थ में ही नहीं हुआ है, बल्कि तत्त्वसाक्षात्कार की प्राप्ति के उपायों के रूप में भी हुआ है। तत्त्व का साक्षात्कार ही दर्शन का साध्य है तथा तत्त्व कहते हैं ब्रह्म के यथावत् स्वरूप को।[2] इसी तत्त्व या ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के

---

1. दर्शनालोकनेक्षणे–अमरकोश, 3/2/31.

2. तद् इति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तद् इति तद्भावः, तत्त्वं ब्रह्मणो

साक्षात्कार को ही दर्शन कहते हैं। मनु ने इसी तत्त्व साक्षात्कार को 'सम्यक् दर्शन' कहा है।[1]

'दर्शन' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य वाड्.मय में 'फिलॉसफी' के रूप में किया गया है, किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्य वाड्.मय में फिलॉसफी शब्द 'फाइलॉस' तथा 'सोफिया' इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसमें फाइलॉस का अर्थ है 'अनुराग' या 'प्रेम' तथा सोफिया का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार फिलॉसफी का अर्थ हुआ ज्ञान के प्रति अनुराण या प्रेम। पाश्चात्य जगत् में फिलॉसफी का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए 'दर्शन' या फिलासफी बौद्धिक व्यायाम या बौद्धिक विलास की वस्तु होकर रह गया है। यद्यपि काण्ट, प्लेटो, शॉपेनहावर जैसे पाश्चात्य दार्शनिक विचारकों ने फिलॉसफी को इसकी मूल परिधि से उठाकर व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया है, किन्तु अन्य दार्शनिकों के लिए अभी भी 'फिलॉसफी' बौद्धिक विलास से अधिक कुछ नहीं है। यही भारतीय 'दर्शन' और पाश्चात्य 'फिलॉसफी' का भेद है।

दर्शन की उत्पत्ति –

दर्शन की उत्पत्ति कैसे और कहाँ हुई? इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। प्रायः भारतीय विद्वान् संशय[2] या जिज्ञासा से दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसा लगता है

---

1. सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
   दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।। मनुसंहिता, 6/74.
2. नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेन्यायः प्रवर्तते किन्तु संदिग्धे। न्यायसूत्र पर वात्स्यायनभाष्य.

कि जब मानव के लिए किसी कर्त्तव्य का विधान किया होगा, सुखप्राप्ति तथा दुःखनाश के उपाय बताए गए होंगे, तब उसे अपने स्वरूप तथा जगत् के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी। उसी से दर्शन की उत्पत्ति हुई होगी। कम से कम भारतीय दर्शन के मूल में यही प्रवृत्ति दिखायी देती है। पाश्चात्त्य विद्वान् 'दर्शन' की उत्पत्ति 'आश्चर्य' से मानते हैं किन्तु भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। वे तो जिज्ञासा से ही परमसत् को पाना चाहते हैं।[1] कुछ दुःख से भी दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु उसकी परिणति दुःखनाश में करते हैं।

जहाँ तक भारतीय दर्शन के उत्पत्ति स्थान का सम्बन्ध है, विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद में भारतीय दार्शनिक प्रवृत्ति का बीज प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया है कि सबसे पहले पुरुष ही एकमात्र सत् तत्त्व था और वही आगे भी रहेगा।[2] वहीं आगे कहा गया है कि उस सत् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[3] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पहले न सत् था, न असत् था, रजस् पातालपर्यन्त पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे।

---

1. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'–ब्रह्मसूत्र, 1/1/1, 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति'– तैत्तिरीयउपनिषद्, 3/1

2. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम् ।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्येनातिरोहति ।। – ऋग्वेद, 10/9/2.

3. वही, 10/90/12.

अन्तरिक्ष नहीं था, तो फिर क्या था? क्या जल ही जल था?[1] इस प्रकार ऋग्वेद में जिज्ञासापरक, तत्त्वपरक वाक्यों से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से हुई और इसका स्रोत मुख्यतः ऋग्वेद ही है। चूँकि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वेद के ही भाग हैं, इसलिए ये ग्रन्थ भारतीय दर्शन के मूल तो क्या, स्वयं भारतीय दर्शन हैं।

भारतीय दर्शन का स्वरूप –

भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक है। प्रायः प्रत्येक भारतीय दार्शनिक 'आत्मा' की सत्ता को स्वीकार करता है चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो। इसी अध्यात्मपरता से उद्वेलित होकर सभी दार्शनिक एक 'परमसत्ता' की जिज्ञासा करते रहे हैं। इसी आध्यात्मिक मनोवृत्ति से उनके मन में विक्षोभ उत्पन्न हुआ जिसके कारण उनमें विचार की उत्पत्ति हुई और इस विचार को उन्होंने त्रिविध दुःखों के निवारणार्थ प्रयुक्त किया। इसीलिए भारतीय दर्शन पर जो यह मिथ्या आरोप लगाया जाता है कि यह निराशावादी है, वह पूर्णतः निराधार है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में दुःख-कातरता दिखायी देती है फिर भी वह उसका ध्येय नहीं है वरन् उससे मुक्ति ही उसका परम ध्येय है। अतः भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं वरन् आशावादी है।

---

1. नासदासीन्न सदासीत्तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनम् गभीरम् ।।

–ऋग्वेद, 10/129/1.

स्वरूप के आधार पर भारतीय दर्शन को दो भागों में बाँटा जा सकता है– नास्तिक तथा आस्तिक। प्रायः यह कहा जाता है कि 'ईश्वर' को मानना, न मानना, आस्तिक और नास्तिक होना है, जैसा कि पाणिनि मानते हैं। पाणिनि के अनुसार परलोक बुद्धि वाला आस्तिक और उससे भिन्न व्यक्ति नास्तिक कहा जाता है।[1] किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि मीमांसा, और सांख्य ईश्वर को नहीं मानते हैं फिर भी नास्तिक कहे जाते हैं। आस्तिक और नास्तिक की एक दूसरी परिभाषा मनु ने दी है जो प्रायः सर्वमान्य है। मनु के अनुसार वेद के प्रामाण्य को मानने वाला आस्तिक है तथा वेद को अप्रामाण्य मानने वाला नास्तिक है।[2]

इस प्रकार वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है तथा वेद में विश्वास करने वाला आस्तिक है। भारतीय दर्शन नास्तिक तथा आस्तिक के इसी स्वरूप के आधार पर दो भागों–नास्तिक तथा आस्तिक में बाँटा गया है। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन एवम् आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा या वेदान्त की गणना होती है। इन्हें षड्दर्शन कहा जाता है।

---

1. अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। सिद्धान्तकौमुदी, 4/4/60.

   अस्ति परलोकम् इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति परलोकम् इति मतिर्यस्य स नास्तिकः। वही, 4/4/60, पर भट्टोजिदीक्षितकृत व्याख्या।

2. योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्रनयाद्विजः।

   स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः। मनु0 2/11.

नास्तिक दर्शन

चार्वाक दर्शन –

नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम चार्वाक या लोकायत का नाम लिया जाता है। इसके आदि आचार्य वृहस्पति माने गये हैं। यह एक जडवादी, भौतिकवादी दर्शन है। यह सुखवाद का प्रतिपादक है। इसका सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जब तक व्यक्ति जीवित रहे, सुखपूर्वक जिये तथा ऋण लेकर घृत पिये। इस शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः इस संसार में आगमन कहाँ?[1] यह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है।[2] अनुमान और शब्दादि प्रमाणों को निराधार मानता है। यद्यपि यह प्रत्यक्षतः आत्मा की सत्ता नहीं मानता, किन्तु देह को ही आत्मा कहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चार्वाक भी आत्मा जैसे परमसत् तत्त्व को नकार नहीं सके। यद्यपि ईश्वर या परलोक में इनका विश्वास कदापि नहीं था। 'काम' को ही इन्होंने एकमात्र पुरुषार्थ तथा 'मरण' को ही मोक्ष माना।[3] आगे चलकर कुछ चार्वाकों ने काम के साथ-साथ धर्म को भी जोड़ दिया। यदि अर्थ और काम धर्म से समन्वित शासित नहीं है तो सर्वोच्चसुख प्राप्त नहीं हो सकता। धर्म, अर्थ और काम से समन्वित जीवन ही सुखी हो सकता है।[4] चार्वाक, पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार

---

1. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।। सर्वदर्शनसङ्ग्रह

2. प्रत्यक्षमेवैकैव प्रमाणम्। – वृहस्पतिसूत्र 20.

3. काम एवैकः पुरुषार्थः। मरणमेवापवर्गः। –वृहस्पतिसूत्र

4. परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत्। कामसूत्र, अध्याय–2.

तत्त्वों को ही महाभूत मानते हैं तथा इनसे चैतन्य शरीर की उत्पत्ति मानते हैं।[1] आज चार्वाकों का कोई भी मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। दर्शन के ग्रन्थों में इस मत की यत्र--तत्र चर्चा है। सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाकों के सिद्धान्तों का संकलन किया गया है।

जैन दर्शन –

अवैदिक दर्शनों में दूसरा जैन दर्शन है। यह भी एक प्राचीन दर्शन है,जिसके प्रवर्तक महावीर स्वामी माने जाते हैं। इसके प्राचीन आचार्यों में उमास्वाति स्वामी का नाम सादर लिया जाता है। जैन दर्शन में सूक्ष्म समस्याओं पर विचार किया गया है। इसके अनेकान्तवाद[2] तथा स्याद्वाद सिद्धान्त मौलिक सिद्धान्त हैं। इनका अभिप्राय यह है कि विविध दृष्टियों से वस्तु के विविध रूप सत्य हैं। मध्ययुग में जैन--तर्कशास्त्र का भी पर्याप्त विकास हुआ। सिद्धसेन दिवाकर को जैन--तर्कशास्त्र का संस्थापक कहा जाता है। आगे चलकर अकलंकदेव तथा विद्यानन्द ने जैन न्याय को पर्याप्त समृद्ध बनाया। प्रभासचन्द्र के 'न्यायकुमुदचन्द्र' तथा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ तर्कशास्त्र की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्रसूरि (12वीं शदी) के 'प्रमाणमीमांसा' आदि ग्रन्थों तथा मल्लिषेण की 'स्याद्वादमंजरी' में जैन--न्याय का विशद विवेचन किया गया है।

---

1. पृथिव्यपतेजोवायुरिति तत्त्वानि। किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
   --वृहस्पतिसूत्र।
2. अनन्तधर्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्। अन्ययोगव्यवच्छेदिका, पृ.22.

बौद्ध दर्शन –

नास्तिक दर्शनों में अन्तिम दर्शन बौद्ध दर्शन है। भगवान् बुद्ध इस दर्शन के प्रतिपादक थे। 'त्रिपिटक' बौद्धों का प्रमुख एवं पवित्र ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया गया है। बौद्ध दर्शन के अनेक प्रस्थान हैं जिनमें थेरवाद सबसे प्राचीन है। बौद्ध दर्शन के उपदेशों में चार आर्यसत्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे चार आर्यसत्य हैं–दु:ख, दु:ख समुदय, दु:ख निरोध, दु:ख निरोध के उपाय। इन उपायों में अष्टाङ्गिक मार्गों की विशेष महत्ता है। ये आठ मार्ग हैं-- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि। इस प्रकार इन आठों मार्गों से तृष्णा तथा विद्यादि द्वादशचक्र का विनाश होकर पुनर्जन्म की संभावना खत्म हो जाती है तथा निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। आधुनिक दार्शनिकों ने बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों का वर्णन किया है-- बैभाषिक (ब्राह्य प्रत्यक्षवादी), सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवादी), योगाचार (विज्ञानवादी) तथा माध्यमिक (शून्यवादी)। योगाचार दर्शन में असंग तथा बसुबन्धु तथा माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन का नाम महत्त्वपूर्ण है। दिङ्नाग को बौद्ध–न्याय का प्रथम आचार्य कहा जाता है। इनका 'प्रमाण समुच्चय' जो मूलरूप में पूर्णतया उपलब्ध नहीं है, भारतीय तर्कशास्त्र की अमूल्य निधि है। धर्मकीर्ति द्वारा लिखित प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु इत्यादि ग्रन्थ बौद्ध, तर्कशास्त्र के आधारस्तम्भ है। इनके बाद बौद्ध न्याय परम्परा में शांतरक्षित का तत्त्वसंग्रह कमलशील की तत्त्वसंग्रहपंजिका, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्रीमित्र के बौद्ध – विषयक ग्रन्थ अतिमहत्त्वपूर्ण हैं।

आस्तिक दर्शन

साङ्ख्य दर्शन –

आस्तिक दर्शनों में सांख्य सर्वप्राचीन है। कपिलमुनि इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका काल बुद्ध से भी पूर्व लगभग 700 ई0पू0 माना जाता है। भारत में कपिल मुनि ने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारों को शास्त्रबद्ध किया। सांख्य दर्शन द्वैतवादी, वस्तुवादी दर्शन है तथा प्रकृति (जड) और पुरुष (चेतन) इन दो मूलतत्त्वों के संसर्ग से सृष्टि का उद्भव व विकास मानता है। इस प्रकार यह 25 तत्त्वों को मानता है। इसका विकासवादी सिद्धांत बहुत ही वैज्ञानिक है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति एक है, पुरुष अनेक हैं। कपिल के नाम से दो ग्रन्थ प्रचलित हैं– तत्त्वसमास और सांख्यप्रवचन सूत्र।

कपिल के पश्चात् आसुरि, पंचशिख इत्यादि अनेक आचार्य हुए, जिनके मतों का उल्लेख मिलता है, लेकिन उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। इसके अतिरिक्त ईश्वर कृष्ण का नाम आता है, जिन्होंने "सांख्यकारिका" लिखी। यह सांख्यदर्शन का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसकी अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं जिनमें माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी तथा सांख्यचन्द्रिका प्रमुख हैं। इनमें वाचस्पति मिश्र की "तत्त्वकौमुदी" सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा विद्वत्तापूर्ण है।

योगदर्शन –

योगदर्शन के मूलप्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं, जिन्होंने योगसूत्र का प्रणयन किया।

"योगदर्शन" में योग "समाधि" के अर्थ में आया है।[1] समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में हो जाता है अतः चित्तवृत्तिनिरोध को ही समाधि कहते हैं।[2] इस निरोध का अर्थ है द्रष्टा (साधक) का अपने स्वरूप में (कैवल्य में) स्थित हो जाना।[3] योगदर्शन में अष्टांग योग का विस्तारपूर्वक वर्णन है जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आते हैं।

सांख्य योग समानान्तर दर्शन कहे जाते हैं। योगदर्शन का तत्त्ववाद वही है जो सांख्य दर्शन का है। इसमें भी सांख्य की तरह 25 तत्त्वों का वर्णन है। कुछ लोग ईश्वर नामक तत्त्व के जुड़ जाने से इसे "सेश्वर सांख्य" तथा 26 तत्त्वों वाला कहते हैं,किन्तु यह 26 तत्त्वों वाला नहीं है क्योंकि इसका ईश्वर तो एक प्रकार का पुरुष ही है।[4]

योगसूत्रों पर सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका "व्यासभाष्य" है। इसके अतिरिक्त 'भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं। व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र का 'तत्त्ववैशारदी' तथा 'योगवार्तिक' दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

---

1. योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। —योगसूत्र–1, पर व्यासभाष्य।
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योगसूत्र1–2.
3. तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्, वही, 1–3.
4. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। —योगसूत्र–1–24.

न्याय दर्शन –

न्याय दर्शन भारतीय दर्शन का तर्कशास्त्र है। यह वस्तुवादी दर्शन है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण-मीमांसा है। 'गौतम' न्याय-दर्शन के आदि आचार्य हैं। इन्होंने न्यायसूत्र की रचना की। वात्स्यायन ने इस पर 'न्यायभाष्य' लिखा। उद्योतकर ने 'न्यायवार्तिक' की रचना की। वाचस्पति मिश्र ने इस वार्तिक को सुस्पष्ट करने के लिए 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' लिखी। जयन्तभट्ट न्यायदर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

पहले न्याय दर्शन में ज्ञानमीमांसा के साथ तत्त्वमीमांसा का भीनिरूपण किया जाता था. किन्तु तेरहवीं शदी में 'गंगेश उपाध्याय' की 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक पुस्तक से तत्वमीमांसा का अदर्शन होकर केवल ज्ञानमीमांसा का ही निरूपण होने लगा। इसे 'नव्यन्याय' की संज्ञा दी गयी और नव्यन्याय का जनक गंगेश को कहा जाने लगा। इसके बाद नव्यन्याय का विकास बंगाल में हुआ, जिसके रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश भट्टाचार्य और गदाधर भट्टाचार्य प्रमुख प्रतिपादक हैं। गौतम न्याय को प्राचीन न्याय कहा गया। प्राचीन न्याय में षोडश पदार्थों का वर्णन किया गया है। वे सोलह पदार्थ हैं– प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान। न्याय दर्शन का प्रभाव भारत के सभी दर्शनों पर समान रूप से पड़ा है।

यद्यपि न्यायविद्या के अर्थ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में हुआ, परन्तु न्याय शब्द बहुत प्राचीन है। पाणिनि ने एक स्थान पर 'अभ्रेष' अर्थ में नि उपसर्गपूर्वक

इण् धातु से घञ् प्रत्यय करके 'न्याय' की निष्पत्ति बतायी है।[1] 'अभ्रेष' का अर्थ काशिका में 'पदार्थों का अतिक्रमण न करना' या 'जैसा प्राप्त हो वैसा करना' किया गया है।[2] इस प्रकार न्याय का अर्थ हुआ 'उचित'। संभवतः यही अर्थ विकसित होकर 'न्यायविद्या' या तर्कविद्या का रूप धारण कर लिया, क्योंकि 'न्यायदर्शन' में उचित अनुचित का विमर्श हो तो किया गया है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) की विस्तृत व विशद व्याख्या की गयी है।

वैशेषिक दर्शन–

'कणाद मुनि' को वैशेषिक दर्शन का आदि आचार्य माना जाता है। 'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने से इसका नाम वैशेषिक पड़ा। वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है, क्योंकि 'बौद्ध जनश्रुति' के अनुसार इस दर्शन के प्रणेता का नाम 'उलूक' था। जैन लेखक राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में बताया है कि 'कणादमुनि' की तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक के रूप में प्रकट होकर उनको पदार्थों के विषय में उपदेश दिया था। इसी आधार पर इस दर्शन का नाम औलूक्य दर्शन पड़ा।

वैशेषिक दर्शन 'सातपदार्थों' को मान्यता देता है। ये 'सप्तपदार्थ' हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इनमें प्रथम छः भाव पदार्थ हैं और सातवाँ अभावात्मक है। 'चन्द्र' नाम के वैशेषिक दार्शनिक ने इनमें शक्ति, अशक्ति तथा सामान्य

---

1. परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः। – पाणिनिसूत्र, 3/3/37.
2. पदार्थानामपचारो यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः। काशिकावृत्ति।

विशेष – इन तीन अन्य पदार्थों की भी चर्चा की है। इस प्रकार इनके कुल दश पदार्थ हो जाते हैं। ये सभी पदार्थ प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधार पर सिद्ध किये जाते हैं। जहाँ तक वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों की बात है कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। प्रशस्तपाद ने उस पर 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक भाष्य लिखा। इसे 'प्रशस्तपादभाष्य' भी कहा जाता है। 'प्रशस्तपादभाष्य' पर उदयनाचार्य ने 'किरणावली' और श्रीधर ने 'न्यायकन्दली' नामक टीकाएँ लिखीं। विश्वनाथ द्वारा रचित भाषापरिच्छेद या कारिकावली तथा उसी पर लिखी 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' टीका वैशेषिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

पूर्वमीमांसा दर्शन–

पूर्वमीमांसा दर्शन मीमांसा दर्शन भी कहा जाता है। मीमांसा शब्द पूजार्थकमान (पूजायाम्) धातु से सन्, अ तथा टाप् प्रत्ययों के योग से बना है। वार्तिककार कात्यायन मान् धातु को जिज्ञासार्थक भी मानते हैं– 'मानेर्जिज्ञासायाम् (वा.)। 'जिज्ञासा' पद लक्षणा से विचार' अर्थ का भी बोध कराता है।[1] इस प्रकार मीमांसा शब्द का अर्थ हुआ– पूजित विचार।[2] वेदों का कर्मकाण्डीय भाग ही मीमांसा है। मीमांसा के आदि आचार्य जैमिनिमुनि हैं। इसका प्रमुख विषय ब्राह्मण वाक्यों के बीच संगति स्थापित करना है, किन्तु सातवीं शताब्दी में यह सम्प्रदाय दार्शनिक विवेचन की ओर प्रवृत्त दिखायी पड़ता है। इसका श्रेय कुमारिल भट्ट और उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र को जाता है। इनके मत क्रमशः भाट्ट तथा गुरुमत कहे गये हैं। मीमांसासूत्रों पर शबर स्वामी का शबरभाष्य है। 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल का

---

1. जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा–अर्थसंग्रह, पृ. 4.
2. पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता। भामती, पृ.43.

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिन्होंने शबरभाष्य पर 'वृहती' नाम की टीका लिखी। भाट्टमत पर पार्थसारथी का ग्रन्थ 'शास्त्रदीपिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शालिकनाथ ने वृहती पर टीका लिखकर गुरुमत की प्रतिष्ठा की।

मीमांसा वेदों को अपौरुषेय मानता है। प्रारम्भ में मीमांसादर्शन निरीश्वरवादी था, लेकिन कालान्तर में वेदान्तदेशिक ने 'सेश्वरमीमांसा' की रचना करके इसे ईश्वरवाद की ओर प्रेरित किया जिसे परवर्ती मीमांसकों-आपदेव और लौगाक्षिभास्कर ने आगे बढ़ाया। मीमांसादर्शन के कुछ सिद्धांत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जेसे गुरुमत का त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद, अख्यातिवाद, अन्विताभिधानवाद इत्यादि। इसी प्रकार भाट्टमत का ज्ञाततावाद, विपरीतख्यातिवाद, अभिहितान्वयवाद इत्यादि। न्याय के परतः प्रामाण्यवाद के विरुद्ध मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

उत्तरमीमांसा या वेदान्तदर्शन

वेदान्त का अर्थ–

'वेदानामन्तः इति वेदान्तः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वेदों के 'अन्त' को 'वेदान्त' कहा जाता है। यहाँ पर 'अन्त' शब्द का अर्थ 'निर्णय' तथा निश्चय है।[1] इस प्रकार वेदों के निर्णयार्थ, निगतितार्थ या निश्चयार्थ को ही 'वेदान्त' कहा जाता है। वेदों का यह निर्णय उपनिषदों तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है। अतः वेदान्त उपनिषद् तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का उपलक्षण है।

---

1. निर्णयोऽन्तश्च निश्चयः। –वैजयन्तीकोश, 3/6/176.

वेदान्त के आधार के सम्बन्ध में सदानन्दयोगीन्द्र कहते हैं कि 'वेदान्त' उसे कहते हैं जो उपनिषद् को प्रमाण मानता हो तथा उसका अनुसरण करने वाले शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) आदि को भी प्रमाण मानता हो। आदि शब्द से यहाँ गीता भी उपनिषदों के समकक्ष बोध्य है।[1] उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता प्रस्थानत्रयी के नाम से अभिहित किए गए हैं। प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त आचार्य रामनुज तो आगम साहित्य तथा द्रविडाम्नाय आदि को भी 'वेदान्त' की कोटि में रखते हैं। 'वेदान्त' को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। वेदों के कर्मकाण्डीय भाग को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानकाण्डीय भाग को उत्तरमीमांसा कहा जाता है। इन ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त ही 'वेदान्त दर्शन' है। प्रस्थान ग्रन्थों में मुख्यतः ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है[2] अतः वेदान्त का प्रतिपाद्यविषय भी 'ब्रह्म' ही है।

वेदान्त दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय–

'वेदान्त' साहित्य में मुख्यतः उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इन प्रस्थान ग्रन्थों की गणना होती है। इनमें ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र जिसकी रचना भगवान् बादरायण ने की थी, का प्रमुख स्थान है। बादरायण ने उपनिषदों का निचोड़ सूत्रों में आबद्ध किया है। अतः उनकी व्याख्या भिन्न–भिन्न ढंग से होने लगी। विभिन्न भाष्यकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदान्त का प्रतिपादन किया। इस तरह प्रत्येक भाष्यकार एक–एक वेदान्तसम्प्रदाय का प्रवर्तक बन गया। इस तरह अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय चल पड़े।

---

1. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार, 3.
2. प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या येषु तत् प्रस्थानम् इति।

अद्वैत वेदान्त–

महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में जैमिनि, आश्मरथ्य, बादरि, औडुलोमि, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि और आत्रेय इन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें काशकृत्स्न अद्वैतवादी थे, क्योंकि शंकराचार्य ने उनके मत को श्रुत्यनुकूल और मान्य बताया है। शंकराचार्य ने द्रविडाचार्य को आगमवित् के रूप में उलिलखित किया है, अतः संभव है ये भी अद्वैती थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपवर्ष का उल्लेख वृत्तिकार के रूप में किया है, लेकिन यह कहना कठिन है कि वे अद्वैती थे या विशिष्टाद्वैती। ब्रह्मदत्त और सुन्दरपाण्ड्य भी संभवतः शंकरपूर्व अद्वैती थे। सुप्रसिद्ध व्याकरण दार्शनिक भर्तृहरि भी अद्वैतवाद और विवर्तवाद के पोषक थे।

गौडपाद की माण्डूक्यकारिका जिसे 'आगमशास्त्र' भी कहा जाता है, अद्वैत वेदान्त का प्रथम उपलबध दार्शनिक ग्रन्थ है। यह गौरवमय मान्य ग्रन्थ उपनिषद् सारभूत अद्वैत तत्त्व की अपनी मार्मिक और प्राञ्जल कारिकाओं में सुसंगत प्रतिपादन करता है और मुमुक्षुओं का सर्वस्व माना जाता है।इसमें चार प्रकरण क्रमशः आगम, वैतथ्य, अद्वैत और अलातशांति हैं। इसमें ओङ्.कार को ब्रह्म या परमात्मतत्त्व बताया गया है। 'ओऽम्', के अ, उ, म, इन तीन मात्राओं द्वारा आत्मा के तीन पादों–विश्व, तैजस और प्राज्ञ का प्रतिपादन किया गया। चौथी मात्रा जो अमात्र है वह तुरीय की है, जो इन तीनों का अन्तर्यामी परमात्म तत्त्व है। इन कारिकाओं में जगत् के वैतथ्य या मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है। अजातिवाद तथा अस्पर्शयोग आदि गौडपाद के प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं।

अद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर हैं। इन्हें अद्वैत वेदान्त का पर्याय

माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। कहा जाता है कि जिस समय वैदिक धर्मवेद विरोधी साम्प्रदायिक तत्त्वों से आक्रान्त हो गया, वैदिक मर्यादा छिन्न–भिन्न होने लगी, उस समय देवी, देवगण तथा मनुष्यों ने धर्म संस्थापनार्थ त्रिशूलपाणि भगवान् शंकर की हार्दिक आराधना की। उन सबको सान्त्वना देकर आशुतोष भगवान् शंकर दक्षिण भारत के केरल प्रान्त के कालडी ग्राम में आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में एक वेदज्ञ ब्राह्मणशिवगुरू और विशिष्टा के यहाँ शंकर नाम से आविर्भूत हुए। यही शंकर आगे चलकर शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।[1]

द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न द्वैतम इति अद्वैतम् इस प्रकार द्वैत के अभाव अर्थात् ब्रह्म और जीव के द्वैत के अभाव को ही अद्वैत कहा जाता है। दो से भिन्न अर्थात् एक को 'अद्वैत' नहीं कहा जा सकता। यदि 'अद्वैत का अर्थ 'एक' करेंगे तो 'अद्वैत' सिन्द्वान्त ही खण्डित होगा और अद्वितीय तत्त्व ब्रह्म संख्या में बँध जायेगा जो अनिष्ट होगा।

आचार्य शंकर का सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है, इससे भिन्न नहीं।[2] ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं, दोनों परमतत्त्व के पर्याय हैं। जगत् माया की प्रतीति है। जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं। जिस प्रकार रज्जु भ्रम में सर्प के रूप में प्रतीत होती है और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म, अविद्या या माया के कारण जीव जगत् प्रपञ्चरूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव जगत् प्रपञ्च

---

1. दृष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले। स एव शंकराचार्यःसाक्षात् कैवल्यनायकः।।
2. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः। शंकरकृत ब्रह्मज्ञानावलीमाला।

की अपरोक्षानुभूति द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव जगत् प्रपञ्च का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्मज्ञान का स्वरूप है।

शंकर के बाद के अद्वैत के आचार्यों में शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, विमुक्तात्मा, प्रकाशात्मयति, श्रीहर्ष, आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, स्वामी विद्यारण्य,. प्रकाशानन्दयति, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, नृसिंह आश्रम सरस्वती, अप्पयदीक्षित, धर्मराजाध्वरीन्द्र और सदानन्दयोगीन्द्र आदि प्रमुख हैं। वाचस्पति मिश्र ने शारीरक भाष्य पर 'भामती' नामक विश्रुतटीका लिखी। पद्मपादाचार्य ने चतुःसूत्री पर प्रकाशात्मयति की विवरण टीका है। सुरेश्वराचार्य ने शंकर के वृहदारण्यक भाष्य पर तथा तैत्तिरीय भाष्य पर वार्तिक लिखे। नैष्कर्म्यसिद्धि, उनका प्रसिद्ध स्वतंत्र ग्रन्थ है। श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार अद्वैतदर्शन की एक समृद्ध आचार्य परम्परा है।

वेदान्त के अन्य वैष्णव सम्प्रदाय–

वैष्णव सम्प्रदायों के रूप के बारे में भक्त नाभादास ने अपने एक छप्पय में कहा है कि जैसे भगवान् के चौबीस अवतार हुए हैं वैसे ही कलियुग में भगवान् के चार व्यूह प्रकट हुए हैं जो क्रमशः रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य हैं। इन चार आचार्यों ने प्राचीन नारायण–धर्म, सात्वत धर्म, या भागवतधर्म को एक नया रूप दिया है। इन्होंने ही वैष्णव मत की की स्थापना की और इस मत को एक परमधर्म तथा परमदर्शन के रूप में स्थापित किया।

रामानुज का सम्प्रदाय श्रीवैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है। विष्णुभक्त श्री या महालक्ष्मी ने इसका प्रवर्तन किया है। निम्बार्काचार्य का सम्प्रदाय हंस–सम्प्रदाय कहा जाता है। इसके आदि प्रवर्तक विष्णुभक्त जनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन हैं। वे सभी परमहंस है। इसलिए इस सम्प्रदाय को हंस सम्प्रदाय कहा जाता है। मध्वाचार्य का सम्प्रदाय ब्रह्मसम्प्रदाय है। विष्णुभक्त ब्रह्मा इसके आदि प्रवर्तक हैं। विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय रुद्र–सम्प्रदाय कहा जाता है। इसके आदि प्रवर्तक विष्णुभक्त रुद्र हैं। इनके मुख्य प्रचारक वल्लभाचार्य हैं।

इन चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त भी अनेक वैष्णव सम्प्रदाय हैं, जैसे गौड़ीय सम्प्रदाय, रामानन्द सम्प्रदाय, राधावल्लभी सम्प्रदाय, सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय आदि। इन सम्प्रदायों में गौडीय सम्प्रदाय का महत्त्व उपर्युक्त चार सम्प्रदायों की भांति हो गया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य हैं। उनके संन्यास, गुरु केशव भारती थे जो मध्वाचार्य के सम्प्रदाय के संन्यासी थे। इस कारण गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय को कुछ लोग मध्वाचार्य सम्प्रदाय की शाखा मानते हैं, किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों के दर्शन–पक्ष तथा साधना–पक्ष भिन्न–भिन्न हो गये हैं। अतः गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय मध्वाचार्य के ब्रह्मसम्प्रदाय से भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त–

'द्वयोर्भावः द्विता, द्विता एव द्वैतम्, न द्वैतम् इति अद्वैतम्, विशिष्टं च विशिष्टं च इति विशिष्टे, विशिष्टयोः अद्वैतम् इति विशिष्टाद्वैतम्, किं तावत् विशिष्टत्वम्?

सूक्ष्म चिदचित् विशिष्टं कारणब्रह्म, स्थूलचिदचित्विशिष्टं कार्यब्रह्म तयोरद्वैतमेव विशिष्टाद्वैतम्। सूक्ष्मत्वं नाम नामरूपविभागानर्हत्वम्। स्थूलन्तु नामरूप विभागार्हत्वम्– इस व्युत्पत्ति केआधार पर 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट कारण ब्रह्म तथा स्थूलचिदचित्विशिष्ट कार्यब्रह्म के अद्वैत को। नामरूप और विभाग से रहित को 'सूक्ष्म' कहते हैं तथा 'नाम', रूप और विभाग से युक्त को 'स्थूल' कहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट कारण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट कार्यब्रह्म अर्थात् 'जीव' के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का उद्‌भव–

चूंकि दर्शन का उत्पत्ति स्थान वैदिक वाङ्.मय है इसलिए विशिष्टाद्वैत वेदांत के सिद्धान्तों के बीज भी वैदिक वाङ्.मय से ही प्राप्त होते हैं। इसके बाद पुराणों, इतिहासग्रन्थों, आगमसाहित्य तथा आलवार साहित्य में भी विशिष्टाद्वैत तत्त्व भरे पड़े हैं, जिनका क्रमबद्ध विवेचन इस प्रकार है–

वेदों में विशिष्टाद्वैत–

वैदिक वाङ्.मय के अंतर्गत चारों वेदों में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद की अनेकानेक ऋचाएँ यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी पायी जाती हैं। अतः विशिष्टाद्वैत के उद्‌गम की दृष्टि से सर्वप्रथम हम ऋग्वेद पर ही विचार करते हैं। आर्यों के धर्मदर्शन में सृष्टि की रचना एवं विश्व के संचालन के लिए ईश्वर, जीव एवं प्रकृति (जगत्) उसी प्रकार स्वीकार की गयी है, जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में चित् (जीव)

अचित् (जगत्) और ईश्वर–इस तत्त्वत्रय की सत्ता स्वीकार की गयी है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' तथा नासदीय सूक्त में 'परमपुरुष' से इस सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। पुरुष सूक्त में यह वर्णित है कि परमपुरुष (ईश्वर) के असंख्य सिर, हाथ, पैर, आंख आदि हैं और वह ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात।

स भूमिंविश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्.गुलम्।। ऋग्वेद–10.90.

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पहले न असत् था और न ही सत् था। रजस् पातालपर्यन्त पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे, अन्तरिक्ष नहीं था, तो फिर क्या था?क्या जल ही जल था?

नासदासीन्न सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।

किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीत्गहनम्गभीरम्।। ऋग्वेद–10/129/1

इसके उत्तर में कहा गया है कि पहले पहल न तो मृत्यु थी और न ही अमृतत्व था। रात्रि और दिन का ज्ञान भी नहीं था।बस एक ही तत्व 'ब्रह्म' था जो अपनी माया से अविभक्त एकरूप विद्यमान थाः–

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अहन् आसीत्प्रकेतः।

अनादीवातं स्वधया[1]तदेकं तस्याद्वान्यन्न परं किंचनास।। ऋग्वेद–10/129/2

---

1. स्वधवामायया युक्तं एकमेव ब्रह्म आसीत् इति तात्पर्यम्–सायणभाष्य।

इस प्रकार सविशेष ईश्वर को ही इस सृष्टि का निमित्तोपादान कारण माना गया है। ईश्वर, प्रकृति तथा जीव इस तत्वत्रय को ऋग्वेद के एक एक श्लोक द्वारा बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया गया है :-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्यो अभिचारुशीति।। -ऋग्वेद- 7/164/20

विशिष्टाद्वैतसम्मत मुक्ति के साधनभूत 'भक्तितत्त्व' के मूल की दृष्टि से ऋग्वेद का ही उल्लेख सर्वप्रथम आता है। ऋग्वेद के संहिता भाग में कर्मकाण्ड की बहुलता के बाद भी संहिता भाग के इन मंत्रों (ऋचाओं) में यज्ञादि कर्मकाण्ड को सुसम्पन्न करने के लिए वैदिक ऋषियों द्वारा विभिन्नदेवताओं की प्रार्थनाएँ, स्तुतियाँ की गयी हैं। इन ऋचाओं के गाढ अनुशीलन से पता चलता है कि 'भक्ति' के जिस स्वरूप का प्रतिपादन विशिष्टाद्वैतदर्शन में किया गया है, भक्ति अपने उस रूप में संहिता या ब्राह्मण भाग में भले उपलब्ध न हो किन्तु भक्ति का मूलतत्त्व स्नेह या अनुराग विभिन्न ऋषियों की देवताओं को लक्ष्य करके की गयी स्तुतियों में स्पष्ट झलकता है।[1] ये स्तुतियाँ या प्रार्थनाएँ इतनी मार्मिकता के साथ की गयी हैं कि इनके स्तोता के हृदय में अपने स्तूयमान देवता के प्रति उत्कट प्रेम का अभाव मानना अत्यन्त उपहास्पद होगा।

---

1. तमस्तोतारः पूर्व्यं यथाविद्, ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम किंचिद् विविस्तन, महस्ते विष्णुः सुयतिं भजामहे।।

ऋग्वेद-1/15/3.

ब्राह्मणग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत –

ब्राह्मणग्रन्थों में यद्यपि संहिता भाग के मंत्रों का याज्ञिक कर्मकाण्डों में विनियोग आदि का विधान किया गया है, किन्तु संहिताभाग की व्याख्या के कारण इन ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत सम्मत तात्त्विक चिन्तन तथा भक्ति के बीज इतस्ततः बिखरे हुए मिलते हैं। इन ग्रन्थों में भक्ति विषयक विशेषता यह है कि इनमें जप का विधान किया गया है। जप निश्चितरूप से परवर्ती भक्ति का अंग है। जप के विधान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति के विकास की पुष्टि होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है, के पच्चीसवें अध्याय में 'ओ३म्' की उत्पत्ति के बारे में चर्चा मिलती है और उसे सर्वोच्चसत्ताक माना गया है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों में 'यज्ञो वै विष्णुः' कहकर यज्ञ को ही विष्णुरूप माना गया है और इसी यज्ञरूपी विष्णु से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में जप के महत्त्व तथा जप के विधान का वर्णन है कि जिस देवता को हवि प्रदान करें, उसका ध्यान करना चाहिए। यजुर्वेद से सम्बद्ध 'शतपथ ब्राह्मण' में यज्ञीय कर्मकाण्डों की ही बहुलता है किन्तु 'भक्ति' के अनिवार्य अंगों जैसे– सबसे प्रेम करना, द्वेषरहित रहना, प्रणव तथा अन्य मंत्रों का जप करना, शुचिता, दिव्यता और क्रोध आदि का यत्र–तत्र उल्लेख हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण', 4,2,3,11 में गायत्री की प्रशंसा और जप का विधान, शत., 4/5/8 के छठें, आठवें प्रकरण में ब्रह्मा और मैत्रावरुण के जप और शत. 4/2/6/12 में 'ओ3म्' के जप का विधान है और कहा गया है कि वही सत् है।[1] 'प्रेम' भक्ति का मूल तत्त्व है।

---

1. स वै ओ3म्। तद्धि सत्यम्। तद्देवाः विदुः। तस्मात् ओ3म् प्रतिगृणीयात्।

–शतपथ ब्राह्मण 4/2/6/12

'शतपथ ब्राह्मण' में देवों के प्रिय होने की बात कही गयी है।[1] देवों को प्रिय होने के लिए नमस्कार या प्रणति का विधान शतपथ ब्राह्मण करता है।[2] अर्चना नवधाभक्ति का ही अंग है।[3] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भजन का विधान किया गया है।[4] सामवेद से सम्बंधित आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार प्रमादरहित होकर अपनी कामना को ध्यान में रखते हुए प्रभु के समीप ध्यान द्वारा तन्मय भाव से स्तुति करनी चाहिए। ध्यान और स्तुतिस्पष्टतः भक्ति के अंग हैं। गोपथ ब्राह्मण, जिसका सम्बंध अथर्ववेद से है, पर्याप्त अर्वाचीन है, इसमें भी "प्रणव" के जप का गुणगान किया गया है।[5] गोपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर सामवेद को वेदों का रस कहा गया है।[6] सामवेद उपासनाकाण्ड का वेद है। उपासना और भक्ति एकार्थक है।

---

1. अहं वः प्रियो भूयासम् इत्येव एतदाह। शत0ब्राह्मण, 2/3/2/34.
2. उपत्वाग्रेदिवे दिवे दोषाववस्तिर्धिया वयम्
   नमोभरन्त एमसिनमः एव असया एतत् करोति।
   यथा एनं न हिंस्यात्। वही, 3/22.
3. तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरु। वही, 1/5/1/3.
4. स ह अग्निरुवाच मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु, तद्धाऽहं मयि आ भजामि इति।
   –वही, 1/5/2/20.
5. अमृतं वै प्रणवः अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति। ब्रह्म ह वै प्रणव ब्रह्मणा एव अस्मै तद् ब्रह्म उपसन्तनोति। – गोपथ ब्राह्मण भाग–2, प्रपाठक–3.
6. गोपथ ब्राह्मण भाग–2, प्रपाठक 5, कण्डिका, 6.

आरण्यकों में विशिष्टाद्वैत –

आरण्यकों में ब्राह्मणों की तरह याज्ञिक अनुष्ठानों की मीमांसा नहीं, वरन् आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा की गयी है। अरण्य (वन) के एकान्त वातावरण में इनका प्रतिपादन, अध्ययन होने से इसका नाम आरण्यक सार्थक है। प्राणविद्या का भी इसमें गुणगान किया गया है। तात्त्विक दृष्टि से इसमें विशिष्टाद्वैत के लक्षण यत्र–तत्र परिलक्षित होते हैं। इसमें आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है तथा 'ब्रह्म' को परम सत्, समस्त गुणों से युक्त एवं हेय गुणों से रहित बताया गया है।

'बृहदारण्यक' में कहा गया है कि यह जो भी दृश्य है वह आत्मा है।[1] जब सब कुछ आत्मा ही है तो किससे किसको देखें, किससे किसको जानें।[2] 'वृहदारण्यक' में ब्रह्म को ही आत्म तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया गया है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है कि यही ब्रह्म इस जगत् को धारण किए हुए है। वह सभी प्राणियों के अंदर प्रविष्ट होकर शासन करता है।[3] इस प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् अपृथक् सिन्द्ध है। ब्रह्म को "विज्ञानमानन्दंब्रह्म" (वृ. 5/9–25) कहकर आनन्दत्व को उसका गुण बताया गया है। "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयते"[4] इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा की अनेकता सिन्द्ध की गयी है।

---

1. इदं सर्वं यत्, अयमात्मा", वृहदारण्यक, 4/4/6.
2. यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितरं पश्यति– यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्....
   तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं विजानीयात्। वही, 4/4/14.
3. अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा। तैत्तिरीय आरण्यक, 11–20.
4. वृहदारण्यक, 4/5/19.

उस परमतत्त्व के संकल्प मात्र से इस जगत् की सृष्टि हुई है।[1] वृहदारण्यक में विशिष्टाद्वैतानुसारी व्याख्या ईश्वर के अन्तर्यामित्व की, की गयी है। इसमें कहा गया है जो पृथ्वी में रहते हुए पृथ्वी से भिन्न है जिसे पृथ्वी नहीं जानती, किन्तु पृथ्वी जिसका शरीर है वह आत्मा अमर और सबका अन्तर्यामी है।[2] इसी प्रकार एक अन्य जगह पर कहा गया है कि "प्राण" ही इस विश्व को धारण किए है।[3]

आरण्यकों में तात्त्विक विवेचना के साथ ही साथ जगह-जगह भक्तियोग का भी उल्लेख हुआ है। आरण्यकों में बहिर्योग की अपेक्षा अन्तर्योग को अधिक महत्त्व दिया गया है। चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग का प्रचार-प्रसार इस युग में कानन कन्दराओं में रहने वाले ऋषियों द्वारा पर्याप्त रूप में हुआ है। अन्तर्योग और बहिः योग की भावना से भावित अरण्यवासी ऋषियों द्वारा वर्द्धमान भक्तिवृक्ष का भी यथायोग्य सेचन हुआ है।

उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत-

उपनिषद् भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं। भारतीय दर्शन की कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जिसका उद्गम उपनिषद् में न हो, तो फिर विशिष्टाद्वैत विचारधारा

---

1. स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। ऐतरेयारण्यक, 1/1/1.
2. यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं....
   एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। वृहदारण्यक, 5/7/6.
3. सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्याविष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्याविष्टब्धः।
   एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्य : प्राणेनबृहत्याविष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।
   -ऐतरेयारण्यक, 2/1/6.

इससे अछूती कब रहती? विशिष्टाद्वैतसम्मत दार्शनिक विचारों का बीज उपनिषदों में बहुशः मिलता है। चिद्–आत्मा, अचित् जगत् या फिर चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का विवेचन हमें उपनिषदों में मिलता है। विशिष्टाद्वैत की भक्ति और प्रपत्ति का भी बीज हमें उपनिषदों में दिखाई देता है।

उपनिषदों में आत्मतत्त्व को स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश माना गया, जो विशिष्टाद्वैत का जीवात्मा सम्बंधी सिद्धांत का आधाराश्म है। प्रत्येक व्यक्ति को 'अहं जानामि' इस प्रकार अपने आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है। यह 'अहं प्रतीति' संशय का विषय नहीं है और न ही आत्मा का निषेध ही किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा ही तो निराकर्त्ता है। वस्तुतः जीव का स्वरूप शुद्ध आत्मचैतन्य है। यह स्वतः प्रकाशक तथा आनन्दरूप है। यामुनाचार्य भी 'आत्मा भिन्नः स्वतः सुखी' कहकर इसकी स्वतः प्रकाशकता स्वतःसिद्धता तथा सुखरूपता को स्वीकार करते हैं। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि यह जो कुछ भी है, सब आत्मा है।[1] यह आत्मा ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है।[2] वह ईश्वर से भिन्न होकर भी उससे अभिन्न है, यही उसका अपृथक् सिद्धत्व है।

उपनिषदों में उस परम ब्रह्म की सुगणता तथा निर्गुणता दोनों वर्णित है। "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः[3] "यः

---

1. इदं सर्वं यत्, अयमात्मा, वृहदा0, 4/4/6.

2. अयमात्मा ब्रह्म। माण्डूक्योपनिषद्।

3. छान्दोग्योपनिषद्, 8/1/5.

सर्वज्ञः सर्ववित्"[1] निर्गुणं निष्कलं शान्तं विरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि में अपहतपाप्मत्व, अजरता, अमरता, सत्य संकल्पत्व, सत्यकामत्व, सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि को सगुण ईश्वर का कल्याणगुण कहा गया है। निर्गुण ब्रह्म से तात्पर्य है कि वह सकल प्राकृत हेय गुणों से रहित है। इस प्रकार सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण कहा गया है। ब्रह्म के इसी रूप को विशिष्टाद्वैत वेदान्त ने अपनाया है।

इसी प्रकार उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत सम्मत भक्ति के भी बीज प्रचुर मात्रा में दिखायी देते हैं। उपनिषदों में सर्वत्र परमपुरुषार्थ ब्रह्म की प्राप्ति कहीं ज्ञान द्वारा तो कहीं उपासना द्वारा, कहीं त्याग द्वारा और कहीं ध्यान द्वारा कही गयी है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में तो भक्ति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[2] इसी श्रुति में परमात्मा की भक्ति के साथ ही साथ गुरु की "भक्ति" का भी प्रतिपादन किया गया है। "भक्ति" का मूलस्वर अपने "अहम्" का विसर्जन करके ईश्वर की शरण में जाना है। इस शरणागति को आचार्य रामानुज भक्ति का अङ्ग और स्वतंत्रोपाय दोनों मानते हैं। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में मुमुक्षु के ईश्वर की शरणागति का स्पष्ट विधान है।[3]

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन के जो बीज वेदों के संहिता भाग, ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों में इतस्ततः बिखरे हुए थे, वे बीज उपनिषद् काल में आकर अंकुरित होने लगे, जो आगे चलकर पल्लवित तथा पुष्पित हुए।

---

1. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/10.
2. श्वेताश्व0 6/23.

पुराणों में विशिष्टाद्वैत

भागवत पुराण –

विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रभव के रूप में भागवत पुराण का अद्वितीय स्थान है। इस पुराण में ब्रह्म, परमात्मा, भगवत् और परमेश्वर आदि में सामंजस्य स्थापित करते हुए विशिष्टाद्वैत मतानुसार उसकी व्याख्या की गयी है। "भक्ति" का जैसा उत्कर्ष "भागवतपुराण" में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भागवत पुराण के विचारों में उच्चकोटि की काव्यात्मकता है, किंतु उसकी शैली अपेक्षाकृत दुरूह है।

"भागवतपुराण" में विशिष्टाद्वैत दर्शन की भांति यह कहा गया है कि "ईश्वर", "जीव" का अंतर्यामी है। परमेश्वर अपने स्वरूप में पूर्णतया निराकार शुद्ध चैतन्य हैं, अपनी चिच्छक्ति के द्वारा तो वह जीवों को स्वयं में धारण करता है और अपनी अचिच्छक्ति के द्वारा वह भौतिक जगत् का भ्रम फैलाकर उसे जीवों के विविध अनुभवों के लिए उनसे सम्बंधित करता है। इस प्रकार 'ब्रह्म' या 'ईश्वर', जैसा कि विशिष्टाद्वैत का मत है, चिदचिद् विशिष्ट है।[1] विशिष्टाद्वैत सम्मत मुक्ति के साधनभूत "भक्ति' का विकसित रूप हमें पुराणों में देखने को मिलता है। भक्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत महापुराण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भागवत के अनुसार व्यक्ति के जीवन का परम कर्त्तव्य (धर्म) भगवान् श्रीकृष्ण में निर्हेतुकी विक्षेपरहित भक्ति है।[2] भक्ति से बढ़कर प्राणी के लिए

---

1. अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदम् अखिलं ततम्।
   चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः।। –श्रीमद्भागवत महापुराण, 7/3/74.
2. वही, 1/2/6.

प्राप्य और कुछ दूसरा नहीं है। सच्चा भगवद्भक्त, भक्ति के अतिरिक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य तथा सायुज्य नामक मुक्ति की भी कामना नहीं करता।[1]

<u>विष्णु पुराण–</u>

भागवतपुराण के पश्चात् वैष्णवपुराणों में विष्णुपुराण का सर्वाधिक महत्त्व है। इसमें विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्व भरे पड़े हैं या कहें यह विशिष्टाद्वैतपरक पुराण है। विष्णु–पुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष माना गयाहै, द्वितीय स्थान पर व्यक्त, अव्यक्त तथा काल का स्थान है। प्रधान, व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु ही है।[2] इन्हीं को नारायण भी कहते हैं। विशिष्टाद्वैतियों का भी यह मत है कि जगत् विष्णुभगवान् की लीला का फल है। भक्ति की जो धारा विशिष्टाद्वैत दर्शन में अपने उत्कर्ष पर परिलक्षित होती हैं, वह धारा विष्णुपुराण में भी सतत प्रवाहित होती दिखाई देती है। विष्णुपुराण के अनुसार मुक्ति यद्यपि भक्त के लिए काम्य नहीं होती, किंतु उसे वह अनचाहे प्राप्त होती है। यही मत आगे चलकर विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का आधार बना।

---

1. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।
   सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारुप्यैकत्वमप्युतः।।
   दीयमानं न गृह्णन्ति विनामत्सेवनं जना:।।

   – भागवतपुराण– . 3/29/12–13.

2. प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां चरमं हि यत्।
   पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ।। –विष्णु पुराण, 1/2/16.

पद्मपुराण एवं अन्य–

विशिष्टाद्वैत सम्मत सिद्धांतों का बीज 'पद्म पुराण' में भी परिलक्षित होता है। इसमें भक्ति का विशद विवेचन किया गया है। 'पद्म पुराण' के अनुसार भक्ति संपूर्ण पापों को नष्ट करने वाली और मुक्ति प्रदान करने वाली है।[1] भक्ति के अनेक भेद पद्मपुराण में किये गये हैं। सर्वप्रथम भक्ति मानसी, वाचिकी और कायिकी के रूप में बांटी गयी हैं।[2] इसके बाद उसे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक भेदों के आधारपर विभक्त किया गया है।[3] आध्यात्मिक भक्ति को सांख्यजाऔर योगजा के रूप में पुनः विभक्त किया गया है।[4] इन भेदों के अतिरिक्त भक्ति को सात्त्विकी, राजसी और तामसी के रूप में भी विभक्त किया गया है।[5] शिवपुराण में भी विशिष्टाद्वैतसम्मत भक्ति का बीज परिलक्षित होता है, इसमें माहेश्वर भक्ति का वर्णन किया गया है। नारदीय पुराण भी वैष्णवपुराण है।इसमें भी विशिष्टाद्वैत के तत्त्व देखे जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्टाद्वैत के सभी सिद्धांत न्यूनाधिक पुराणों में विद्यमान हैं। ये पुराण तो मानों भक्ति शास्त्र ही हों, जिनमें भक्ति के सभी अंगों का विधान किया गया है।

---

1. पद्म पुराण 5/85/3.
2. वही, 5/85/4.
3. वही, 5/85/5.
4. वही, 5/85/25.
5. वही, 5/85/30.

इतिहास ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत

रामायण –

पुराणों के पश्चात् रामायण और महाभारत जैसे इतिहासग्रंथों में विशिष्टाद्वैतवेदान्त के तत्त्वपरिलक्षित होते हैं। रामायण तथा महाभारत भारतीय जनमानस में अत्यधिक समादृत ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। बाल्मीकि के 'आादिकवि' होने से उनके द्वारा प्रणीत 'रामायण' की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। बाल्मीकि रामायण में राम को परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि भगवान् विष्णु ही देवकार्य हेतु राम के रूप में अवतरित हुए थे।[1] इसमें राम को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बताते हुए उनकी आराधना की गयी है।[2] रावण से हनुमान और राम के प्रभाव का वर्णन राम की सर्वशक्तिमत्ता का द्योतक हैं।[3] अध्यात्मरामायण में भी राम को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बताते हुए उन्हें माया से युक्त होने पर भी माया से असंपृक्त, आनन्दघन, स्वयं प्रकाशरूप तथा समस्त उपाधिकृत हेय दोषों से रहित बताया गया है।[4] जो विशिष्टाद्वैत सिद्धांत से मिलता–जुलता वर्णन है।

---

1. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 18/26.
2. वही, उत्तरकाण्ड, 6/2.
3. सर्वभूतान् सुसंहृत्य स भूतान् सचराचरान। पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामःमहायशाः।।

   –वही, सुन्दरकांड, 51/39.
4. अध्यात्मरामायण 1/1/2.

वाल्मीकिरामायण में यद्यपि विशिष्टाद्वैतसम्मत भक्ति का प्रत्यक्षतः व्याख्यान नहीं हैं, किंतु भक्ति के अवयवों की चर्चा पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं। यज्ञ, स्वाध्याय, तप, जप, व्रत आदि का अनेकशः उल्लेख हुआ है। भक्ति के आवश्यक उपादानों में शरणागति अन्यतम है। भगवान् राम, विभीषण के शरण में आने पर कहते हैं कि मैं एक बार भी शरण में आए हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करता हूं–

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।। – वाल्मीकिरामायण, 6/18/33

महाभारत–

महाभारत सर्वप्रमुख इतिहासग्रंथ है। इसमें भी विशिष्टाद्वैतवेदांत के सिद्धांत बीज रूप में प्रसुप्त पड़े हैं। भारतीय अध्यात्म तथा भक्ति का आकरग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता इसी महाभारत के भीष्मपर्व का अंग है। इसमें विशिष्टाद्वैत सम्मत अवतारवाद की सर्वप्रथम अवतारणा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता में चित् आत्मा अचित् प्रकृति तथा ईश्वर इस तत्त्वत्रय की व्याख्या की गयी है, जिसे हम विशिष्टाद्वैत के तत्वत्रय के साथ बैठा सकते हैं। 'भक्ति' श्रीमद्भगवद्गीता का प्राण है। गीता में भी भक्ति को एकमात्र ईश्वरप्राप्ति का साधन कहा गया है।[1] गीता में भक्ति का जो स्वरूप बताया गया है वही विशिष्टाद्वैत सम्मत स्वरूप है। गीता में कहा गया है –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः।।[2]

---

1. गीता, 11/54.
2. वही, 9/34.

आगमसाहित्य में विशिष्टाद्वैत

पाञ्चरात्रागम–

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के समर्थक सम्प्रदायोंमेंआगम साहित्य का प्रमुख स्थान है और इन आगम सम्प्रदायों में पाञ्चरात्र आगम एक प्राचीन सम्प्रदाय है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के पांचरात्र आगम का सम्बन्ध होने से उसकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। यह आगम समस्त भावी श्रीवैष्णवसम्प्रदायों का आधारस्तम्भ है। विशिष्टाद्वैत वेदांत का पूर्वरूप कहा जाने वाला पांचरात्र आगम अपने मूल में विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों को छिपाये हुए हैं। सात्वत् संहिता, पांचरात्र मत की महत्त्वपूर्ण संहिता है। इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्य संहिता विष्णु संहिता, मार्कण्डेय संहिता, हयशीर्षसंहिता आदियों में विशिष्टाद्वैत सम्मत सिद्धांतों का वर्णन मिलता है।

वैखानस आगम–

आगम साहित्य में पांचरात्र आगम से भिन्न वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैखानस साहित्य में भी विशिष्टाद्वैत के दर्शन होते हैं इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध 'भक्ति तत्त्व'का वर्णन मिलता है। जो विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुरूप है।यह आगम भक्ति की सुमधुर रसधारा से सर्वथा आप्लावित है। भगवान् नारायण की उपासना से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। भक्ति के अवयवभूत जप, अर्चना और ध्यानादि प्राविधान इस आगम में किया गया है।[1]

---

1. वैखानस आगम, द्वितीय पटल.

आलवार साहित्य में विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के तत्त्व आलवार साहित्य में बहुशः उपलब्ध होते हैं,क्योंकि आलवार भी एक प्रसिद्ध वैष्णव सम्प्रदाय है। यह दक्षिण का बहुत ही पुराना सम्प्रदाय माना जाता है। विशिष्टाद्वैत की तरह आलवारों ने भी दास्यभाव तथा प्रवृत्ति को ही मोक्ष का साधन मान लिया। नाम्मालवार ने अपने चार ग्रंथों में से प्रथम में, आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना किया है, दूसरे में उन्होंने भगवान् के महान् तथा उदार गुणों के अनुभव का वर्णन किया है। तीसरे ग्रंथ में प्रभु से मिलने की उत्कंठा वर्णित है तथा चौथे में भगवान् से तादात्म्य की अनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कंठा की तुलना में कितनी कम ठहरती है। पहले के दस श्लोकों में दास्यभाव प्लावित है इसी में ईश्वर के विशिष्टगुणों का वर्णन भी है। विशिष्टाद्वैत मत में भी भगवान् को सकलहेयगुणों से रहित बताया गया है।निर्गुण ब्रह्म से तात्पर्य विशिष्टाद्वैत में सकलहेयगुणरहित तथा विशिष्ट गुणों से युक्त बताया गया है। यही आलवारों को भी अभिष्ट है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विकास एवं आचार्य परम्परा–

विशिष्टाद्वैत दर्शन का व्यवस्थित इतिहास 'नाथमुनि' से प्रारम्भ होता है । आलवार सन्तों के बाद और यामुनाचार्य के पूर्व के विशिष्टाद्वैत दर्शन के बारे में हम ठीक–ठीक नहीं जानते, क्योंकि उनके समय के जो भी कार्य हैं वे अभी पूर्णतः प्रकाश में नहीं आये है, फिर भी इन अज्ञात आचार्यों की परम्परा में जिनका उल्लेख हम पाते हैं, वे हैं श्री रङ्गनाथमुनि जिन्हें नाथमुनि के नाम से जाना जाता है ।इन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रपत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करके श्रीवैष्णवसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । नाथमुनि की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं –

1. न्यायतत्त्व और 2. योगरहस्य । न्यायतत्त्व में नाथमुनि ने न्यायसम्प्रदाय की समालोचना की है तथा योगरहस्य योगशास्त्र पर एक शोध ग्रन्थ हे । इसमें अष्टांगयोग की बारीकियों का विशद निदर्शन है । 'प्रपन्नामृत' में भी नाथमुनि को एक महान् योगी बताया गया है । नाथमुनि विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तकाचार्य के रूप में यद्यपि मान्य हैं, किन्तु इनके दार्शनिक विचार अधिक नहीं मिलते । ये केवल योग–साधना में लीन रहते थे और भगवत्भक्ति के गीत गाया करते थे । ये गीत ही इनके दार्शनिक विचार हैं । वे प्रपत्तिमार्ग के पुरोधा थे । परम्परानुसार कहा जाता है कि नाथमुनि श्रीरंगम के मंदिर में भगवद्विग्रह में प्रविष्ट होकर भगवद्रूप हो गये ।

यामुनाचार्य–

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के विकास में यामुनाचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है । रामानुज के पूर्व विशिष्टाद्वैत का जो भी लिखित दर्शन है वह यामुनाचार्य का ही है । यद्यपि पूर्वकाल में बोधायन वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक माने गये हैं, किन्तु ब्रह्मसूत्र पर उनकी टीका अब प्राप्त नहीं है।इसलिए हम यामुनाचार्य को उत्तर कालिक वैष्णव दार्शनिकों में सर्वप्रथम मान सकते हैं । यामुनाचार्य जो 'आलवन्दार' भी कहलाते थे, ईश्वरमुनि के पुत्र तथा नाथमुनि के पौत्र थे । यामुनाचार्य ने निम्न छः ग्रन्थों की रचना की थी– स्तोत्ररत्नम्, चतुश्लोकी, आगम प्रमाण्यम्, सिद्धित्रय, गीतार्थ संग्रह, महापुरूष निर्णय ।

यामुनाचार्य ने दार्शनिक विचारों का विमर्श करते हुए आत्मा को स्वचैतन्य स्वीकार किया है । जीवात्मा की स्वप्रकाशता और ज्ञानमयता में स्मृति प्रमाण है– 'आत्मा ज्ञानमयोऽमलः' । उन्होने अपने ग्रन्थ सिद्धित्रय के 'आत्मसिद्धि' प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा और परमतत्त्व के बारे में अनेक मत है । अतः इन समस्त

मतमतान्तरों की परिशुद्धि के लिए मैं आत्मा की सिद्धि कर रहा हूँ [1]। 'सिद्धित्रय' में उन्होंने चार्वाकों तथा अन्य दार्शनिकों के आत्म सिद्धान्त की उद्भावना की है तथा उन मतों—देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, ज्ञानात्मवाद तथा प्राणात्मवाद का क्रमशः खण्डन भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यामुनाचार्य के अनुसार जीवात्मा देह, इन्द्रिय, मन, केवल ज्ञान और प्राणादि से विलक्षण भोक्ता, स्वयंप्रकाश, नित्य तथा अणुरूप है । यामुनाचार्य ने आत्मा की अनेकता स्वीकार की है । वे कहते है –

देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योऽन्यसाधनः ।

नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ।। सिद्धित्रय कारिका 3.

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर को जीव और जगत् से विशिष्ट स्वीकार किया गया है। यामुनाचार्य ने भी ईश्वर को सविशेष, सगुण आदि नामों से पुकारा है । यही ईश्वर 'ब्रह्म' इस अपर नाम से जाना जाता है । यह ब्रह्म या ईश्वर एक होते हुए भी चिद्रूप जीव तथा जड प्रकृति से युक्त है । जीव और प्रकृति की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है । ब्रह्मान्तर्गत जीव तथा प्रकृति की सत्ता स्वीकार करने के कारण ब्रह्म के स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं । स्वगत भेद से अभिप्राय वृक्ष की अपनी शाखाओं और पत्रों के भेद आदि से है । यह सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म या ईश्वर का तात्पर्य केवल भगवान् नारायण अर्थात् विष्णु से है, क्योंकि सभी श्रुतियाँ, स्मृतियाँ तथा पुराण आदि परमतत्त्व के रूप में उन्हीं का वर्णन करते हैं । यामुनाचार्य ने 'महापुरुष निर्णय' नामक अपने ग्रन्थ में विशदरूप से शास्त्रों के तर्कों की विवेचना करते हुए यह बताने का प्रयास

---

1. विरुद्धमतयोऽनेकाः सन्त्यात्मपरमात्मनोः ।

अतस्तत्त्वपरिशुद्ध्यर्थमात्मसिद्धिर्विधीयते ।। सिद्धित्रयम्, कारिका 2.

किया है कि उपनिषद् और पुराणों में कहे गये महान् दैवी पुरुष नारायण ही हैं ।

उपनिषदों के आधार पर अद्वैतमतानुयायी यह कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है, यह जगत् मिथ्या है[1] । इस मत का खण्डन करते हुए यामुनाचार्य कहते हैं कि इस कथन में कोई सार नहीं है । इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई ईश्वर नहीं है और उसके जैसा और कोई दूसरा नहीं है । ब्रह्म की अद्वितीयता का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि उससे अतिरिक्त दूसरा नहीं है, वरन् यह अर्थ लेना चाहिए कितत्सदृश कोई अन्य तत्त्व नहीं है ।

यामुनाचार्य ने 'भक्ति सिद्धान्त' को विवेचित करते हुए कहा कि भक्ति शब्द के अर्थ की व्यापकता की परिधि के अन्तर्गत न केंवल पूजा–पाठ आदि प्रारम्भिक कृत्यों से लेकर उच्चतम कोटि का आत्म दर्शन आ जाता है, अपितु लौकिक जीवन में किसी भी प्राणी के प्रति विहित श्रद्धातिरेक हेतु भी भक्ति शब्द प्रायः व्यवहृत हुआ करता है । वेदान्तदेशिक ने भक्ति को विसदृशबुद्धि के व्यवधान से रहित स्मृति प्रवाहत्व कहा है[2] । एक स्थान पर रामानुज ने भक्ति को एक प्रकार का ज्ञान ही कहा है[3] । यामुनाचार्य 'गीतार्थसंग्रह' में गीता को भक्तिशास्त्र मानते हैं । तदनुसार भक्ति ही जीवन के उच्च ध्येय को प्राप्त करने का

---

1. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः । 'शङ्करकृत ब्रह्मज्ञानावलीमाला ।

2. स्मृतेर्ध्रुवत्वं विसदृशबुद्धिव्यवधानरहितप्रवाहत्वम् । तत्त्वटीका, पृष्ठ 89.

3. भक्तिः ज्ञानविशेष एव – वेदार्थसंग्रह ।

अन्तिम साधन है, जो शास्त्रोक्त स्वधर्म पालन ज्ञान और वैराग्य से उत्पन्न होती है ।[1]
'स्तोत्ररत्न', जिसे यामुनाचार्य के उपनाम 'आलवन्दारस्तोत्र' के नाम से भी जाना जाता है, को यदि प्रपत्ति शास्त्र कहें तो अत्युक्ति न होगी । 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' के स्वरूप के बारे में आचार्य यामुन कहते हैं – 'स्वयाथात्म्यं' प्रकृत्यास्य तिरोधिः शरणागतिः'[2] अर्थात् अपने याथात्म्य परमात्मा में स्वभाविक रूप से जीव का तिरोभाव ही शरणागति है । वस्तुतः यामुन ने क्रमबद्ध क्रियात्मक शरणागति का जो निबन्धन स्तोत्ररत्न के रूप में किया है, वह न केवल श्रेष्ठ है, बल्कि परम स्तुत्य है ।

रामानुजाचार्य –

यामुनाचार्य के बाद विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मुख्य प्रस्तोता आचार्य रामानुज हुए । उन्होंने विशिष्टाद्वैत को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया । आज विशिष्टाद्वैत रामानुज वेदान्त का पर्याय माना जाता है । रामानुज का जन्म 1017 ई0 तथा परमपद 1137 ई0 में हुआ । प्रारम्भ में उन्होंने यादवप्रकाश से शिक्षा ली, किन्तु कुछ समय बाद मतभेद हो जाने से उनसे अलग हो गये । अपने मामा महापूर्ण 'पेरिनम्बि' के प्रभाव के कारण रामानुज यामुनाचार्य के प्रति आकृष्ट हुए जो उन्हें अपने बाद श्रीरङ्गम की गद्दी पर बैठाना चाहते थे, किन्तु रामानुज के श्रीरङ्गम् पहुँचने के पूर्व ही यामुन बैकुण्ठवासी हो चुके थे । परम्परानुसार रामानुज ने यामुनाचार्य के दाहिने हाथ की तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई देखीं जिनसे यामुनाचार्य की तीन अपूर्ण इच्छाओं का संकेत मिलता है । इनमें प्रमुख अपूर्ण इच्छा 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखने की थी जिसे रामानुज 'श्रीभाष्य' लिख कर पूर्ण किया । रामानुज श्रीसम्प्रदाय मे महापूर्ण द्वारा दीक्षित

---

1. स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।

   नारायणः परंब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ।। गीतार्थसंग्रह – 1

2. गीतार्थसंग्रह, श्लोक संख्या 11 ।

हुए तथा 'यतीन्द्र' या यतिराज कहलाये । यामुन के बाद श्रीरङ्गम् की गद्दी पर बैठे, उन्होंने श्रीभाष्य के अतिरिक्त गीताभाष्य, वेदान्तसार, वेदान्तदीप, गद्यत्रय और वेदार्थसंग्रह जैसे विशिष्टाद्वैतपरक ग्रन्थों का प्रणयन किया ।

रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में स्वीकार किया है कि वे बोधायन, टंक, द्रविण, गुहदेव, कपर्दी और भारूचि जैसे प्राचीन आचार्यो की विशिष्टाद्वैत परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं । इस प्रकार रामानुज पर आलवारों, नाथमुनि, यामुन, यादवप्रकाश, भास्कर, बोधायन, द्रविड, भर्तृप्रपंच, आश्मरथ्य और औडुलोमि का प्रभाव पड़ा है, किन्तु वे सर्वाधिक ऋणी यामुन, यादवप्रकाश और भास्कर के हैं ।

भास्कराचार्य भेदाभेदवादी हैं । वे ब्रह्म और जीव का अभेद स्वाभाविक तथा भेद औपाधिक मानते हैं। उनके अनुसार बह्म कारण रूप में एक ओर अभिन्न हैं, किन्तु कार्यरूप अनेकता का प्रतीक है ।[1] जगत् बह्म का तात्त्विक परिर्वतन है । जड़तत्व सत् है, अविद्याजन्य नहीं । जीव अणुरूप है । रामानुज ने वेदार्थसंग्रह में भास्कर के मत को संक्षेप में बताया है।[2] रामानुज ने भास्कर के मत का खण्डन किया है । रामानुज के अनुसार भेद तथा अभेद दोनों समान रूप से सत्य नहीं हो सकते और न उनको एक बह्म के दो पृथक् धर्म माना जा सकता है । रामानुज भेदाभेद को नहीं मानते, बल्कि उनके अनुसार बह्म निगुर्ण, निराकार नहीं, वरन् 'चिदचिद्विशिष्ट' है । वह स्वयं मे परम विशुद्ध है, केवल ब्रह्म का चिदचिद्रूप ही परिवर्तित होता है ।

---

1. ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य 1/1/4 ।
2. अपरे तु उपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणोपेतमपि ब्रह्म तेनैवैक्यावबोधेन केचिदुपाधिविशेषेण सम्बद्धं बध्यते मुच्यते च, नानाविधरूपपरिणामास्पदं च इति व्यवस्थिता: । -- वेदार्थसंग्रह

यादवप्रकाश भास्कर से किञ्चिद् भिन्न रूप में ब्रह्म और चेतन का अभेद और भेद दोनों ही स्वाभाविक मानते हैं । वे ब्रह्मपरिणामवाद एवं ज्ञान–कर्म–समुच्चयवाद के पोषक हैं। भास्कर के विपरीत उपाधि की सत्यता को नहीं मानते । यादवप्रकाश के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर तीनों ब्रहम के परिणाम हैं । यादव के मत को भी रामानुज ने अपने 'वेदार्थसंग्रह' में पूर्व पक्ष के रूप में दिया है । रामानुज ने यादवप्रकाश के ब्रह्म और ईश्वर में भेद का खण्डन किया है ।

रामानुज चित् तथा अचित् से विशिष्ट ईश्वर की सत्ता मानते हैं । 'चित्' चेतन-भोक्ता जीव है तथा अचित् जडप्रकृति या भोग्यजगत् है । ईश्वर दोनों का अन्तंयामी है, क्योंकि श्रुतियाँ भी इस बात की पुष्टि करती हैं । 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का कथन है कि अज, सर्वज्ञ, ईश्वर, अज अल्पज्ञ भोक्ता जीव और अजा, भोग्या, प्रकृति-ये तीनों ब्रह्म हैं[2] और यही जानने योग्य है कि भोक्ता जीव, भोग्या प्रकृति और प्रेरयिता ईश्वर ये तीनों ब्रह्म हैं ।[3] रामानुज के अनुसार सगुण, सविशेष ईश्वर चिदचिद्-विशिष्ट है । यही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। यह जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है । चित् या जीव तथा अचित् या जडतत्व-दोनों नित्यपदार्थ होने से उत्पादविनाशरहित हैं । रामानुज ब्रह्म को सजातीय, विजातीय भेदशून्य मानते हैं किन्तु स्वगत भेद स्वीकार करते हैं ।सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म 'कारण' है तथा स्थूल चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म 'कार्य'। ब्रह्म ही अवस्था भेद से कारण तथा कार्य दोनों रूपों में जगत् का उपादान है । सृष्टि ईश्वर का कार्य होने के कारण सत्य है।यह ईश्वर के संकल्प से होने के कारण लीलामात्र है ।

---

1. अन्ये पुनरैक्यावबोधयाथात्म्यं वर्णयन्तः स्वाभाविक निरतिशयापरिमितोदारगुणसागरं ब्रह्मैव सुरनरतिर्यक्स्थावरनारकिस्वर्ग्यपवर्गि चेतनैक्यस्वभावं स्वभावतो विलक्षणमविलक्षणं वियदादिनानाविधमलरूपपरिणामास्पदं च इति प्रत्यवतिष्ठन्ते– वेदार्थसंग्रह, यादवमतसंक्षेप ।
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/9 ।
3. त्रितयं ब्रह्म एतत्, वही 1/12 ।

ईश्वर सकलहेयप्रत्यनीकत्वकल्याणगुणाकरत्व इत्यादि विशेषणों से युक्त है, अतः वह सगुण है । वेदार्थसंग्रह के मंगलाचरण में रामानुज ने ईश्वर को चिदचिद्विशिष्ट, शेषी, शुद्ध, अन्नतकल्याणगुणोपेत आदि मान कर उसकी वन्दना की है और भगवान् विष्णु को ही ब्रह्म माना है ।[1] श्रुतियाँ भी कहती हैं कि पापरहित सर्वभूतों के अन्तरात्मा दिव्यदेव एक ही नारायण हैं ।[2] रामानुज कहते हैं कि ईश्वर एक है, किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वे पाँच रूपों में प्रकट होते है – अर्न्तयामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार ।

रामानुज ने चित् या जीवात्मा के तीन रूप मानते हैं – प्रथम नित्यमुक्त, जो अविद्यादि कर्मों और प्रकृति से कभी बद्ध नहीं होता तथा वैकुण्ठ में सदा निवास करता हुआ भगवत् सेवा में रत रहता है । द्वितीय, मुक्त जीव हैं जो बन्धन से मुक्त हो चुकें है । तृतीय, बद्ध जीव अविद्यादि क्लेश कर्मों के कारण जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में घूम रहें हैं । बन्धन और मोक्ष के विषय में रामानुज का मत है कि ये दोनों वास्तविक हैं । मोक्ष के जीव को इस कर्ममल को सवर्था नष्ट करना आवश्यक है । भक्ति से भगवत् कृपा रूप मोक्ष प्राप्त होता है । रामानुज परज्ञान और पराभक्ति को एक ही मानते हैं।यही भक्ति ही मोक्ष का कारण है। रामानुज भक्ति को एक प्रकार की प्रीति और प्रीति को ज्ञान ही मानते है।[3] इसलिए भक्ति और ज्ञान में विरोध नही है । भक्ति की ज्ञानकर्मपरकता के कारण प्राकृत जन उसे नहीं कर सकते, इसलिए सर्वजन सुलभ भगवत् प्राप्ति हेतु उपाय के रूप में रामानुज 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' का उल्लेख करते हैं । रामानुज कहते हैं कि प्रपत्ति के अलावा किसी भी तरह से मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है ।[4]

---

1. अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने ।
   निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः । – वेदार्थसंग्रह, मंगलाचरण ।
2. एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्योदेवः एकोनारायणः ।
3. भक्तिशब्दश्चप्रीतिविशेषे वर्तते । प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एव । वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ 344
4. एतेषां संसारमोचनं भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण । वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ 166

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मोक्ष की चार अवस्थाओं – 'सालोक्य' अर्थात् ब्रह्म का सतत दर्शन करते रहना, 'सामीप्य' अर्थात् परमात्मा के बिल्कुल समीप रहकर तज्जन्य सुख की अनुभूति करना, 'सारूप्य' अर्थात् भगवान् के समान रूप धारण करना और 'सायुज्य' अर्थात् परमात्मा के सारे भोगों का उपभोग करना, का वर्णन किया गया है । 'सायुज्य' ही मोक्ष की चरमावस्था है । रामानुज जीवनमुक्ति न मानकर 'विदेह मुक्ति' मानते हैं । उनके अनुसार 'तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये'[1] अर्थात् उसकी मुक्ति में तब तक विलम्ब है जब तक देह से छुटकारा नही होता' इत्यादि श्रुतियॉ देहपात के अनन्तर ही मोक्ष का विधान करती हैं । इस प्रकार वे शंकर के जीवन्मुक्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि शरीर से विशिष्ट ही जीवन्मुक्ति मानी जाय, तो यह मान्यता निश्चित ही 'मेरी माता बन्ध्या है' के सदृश अप्रमाण एवं असंगत होगी ।[2] अतएव यह सिद्ध है कि इस शरीर में मोक्ष नहीं होता ।

आचार्य रामानुज माया को ईश्वर की सत् शक्ति कहते हैं जिससे वे इस सत् सृष्टि का निर्माण करते हैं । उनके अनुसार अविद्या जीव का ज्ञान है, जिसके कारण वह शरीर, इन्द्रिय, अंत:करण जैसी प्राकृत वस्तुओं को अपना स्वरूप समझने लगता है । रामानुज शंकर के 'मायावाद' का प्रबल खण्डन करते हैं और उसमें सात दोष बताते हैं, जिसे 'सप्तविध अनुपपत्ति' कहते हैं । ये अनुपपत्तियाँ हैं – आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति तथा निवृत्यनुपपत्ति ।

रामानुज के बाद विशिष्टाद्वैत के विकास में उनके जिन अनुयायियों का योगदान रहा हैं उनमें सर्वप्रथम तथा मूर्धन्य हैं – वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक । इन्होंने अपनी 'शतदूषणी' में अद्वैत वेदान्त के 100 दोषों को बताया है जिनमें 66 ही प्राप्त होतें है । शतदूषणी में

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 5/24/3 ।
2. श्रीभाष्य 1/1/4 ।

विवादों की संख्या पर मतभेद है,इसे डा0 एस0एन0 दास गुप्त ने अपनी पुस्तक में उल्लिखित किया है।[1] वेदान्तदेशिक ने 'न्यायसिद्धाञ्जन' में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को विस्तार से व्याख्यायित किया है । इसके अतिरिक्त 'यादवाभ्युदय', 'हंससंदेश', 'सुभाषितनीवि' तथा 'संकल्पसूर्योदय' नामक ग्रन्थ लिखे । 'यादवाभ्युदय' श्रीकृष्ण के जीवन के सम्बन्धित ग्रन्थ है जिसपर अप्पयदीक्षित ने टीका लिखी है ।'संकल्नसूर्योदय' 10 अंकों का प्रतीक नाटक है । वेदान्तदेशिक ने न्यायपरक विशिष्टाद्वैती ग्रन्थ 'न्यायपरिशुद्धि' लिखा । उन्होंने श्रीभाष्य पर 'तत्त्वटीका' लिखी । यामुन के गीतार्थसंग्रह पर 'गीतार्थसंग्रहरक्षा', रामानुज के 'गीतारहस्य' पर 'तात्पर्यचन्द्रीका', यामुन के चतुश्लोकी एवं स्तोत्ररत्न पर 'रहस्यरक्षा' आदि कृतियाँ भी वेंकटनाथ के मेधा को पुष्ट करती हैं । उनका एक निबन्ध 'वादित्रयखण्डन' मिला है,जिसमें उन्होंने भास्कर, यादव और शंकर के मतों का खण्डन किया है । मीमांसा पर उनके 'मीमांसापादुका' और 'सेश्वरमीमांसा' नाम के ग्रन्थ शबरस्वामी से भिन्न व्याख्या करते हैं । वेंकटनाथ ने मणिप्रवाल शैली में 32 ग्रन्थ लिखे हैं ।[2] वेंकटनाथ के पुत्र कुमारवेदान्ताचार्य वरदार्य या देशिकाचार्य ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की,जिनमें 'तत्त्वत्रय चुलुक संग्रह' प्रमुख है , जिसमें वे 'तत्त्वत्रय' का वर्णन करते हैं । इसके अतिरिक्ति, 'प्रपत्तिकारिका' फलभेदखण्डन, 'चरमगुरुनिर्णय', 'आराधनासंग्रह', 'अधिग्रहणचिन्तामणि', 'रहस्यत्रय' 'सारांश संग्रह' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं ।

इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैती आचार्यों में पिल्लै लोकाचार्य, 'मेघनादारि' 'रामानुजदास' या 'महाचार्य', 'रङ्गरामानुजमुनि', 'परकालयति' या 'कुम्भकोनम ताताचार्य', 'श्रीनिवासदास', 'श्रीनिवासाचार्य (यतीन्द्रमतदीपिका के लेखक)', 'श्रीशैलनिवास ताताचार्य', 'सुदर्शनसूरि (श्रुतप्रकाशिका के लेखक)' 'आहोवलि रङ्नाथयति', 'दोड्याचार्य', 'नारायणमुनि', 'नृसिंहराज',

---

1. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन का इतिहास – 3, पृष्ठ 243–44 ।
2. वही, पृष्ठ 101 ।

'नृसिंहसूरि', 'वस्तुवेदान्ताचार्य', 'पुरूषोत्तम', 'पेलपुरदेशिक (तत्त्वभाष्कर के लेखक)', 'रङ्गराजरामानुजदास भिक्षु', 'आत्रेयवरद', 'वाधूलवरद', 'वीरराघवदास', 'वेंकटसुधी (सिद्धान्तरत्नावली के लेखक)', 'वेंकटदास', 'वेंकटाध्वरि', 'धर्मकुरेश', 'नीलमेघ ताताचार्य', 'रघुनाथाचार्य', 'राघवाचार्य', 'अण्णयार्य' आदि वैष्णव वेदान्तियों ने अपने अपने साहित्य से विशिष्टाद्वैत वेदान्त को समृद्ध किया तथा उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना योगदान दिया ।

सोलहवीं सदी के 'अप्पयदीक्षित' ने रामानुज सम्मत ब्रह्मसूत्र की टीका की, जो 'न्यायमुखमालिका' कहलाती है । उन्नीसवीं शताब्दी के 'अनन्ताचार्य' ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना करके विशिष्टाद्वैत वेदान्त को समृद्ध बनाया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त अत्यन्त व्यावहारिक तथा आचार्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध है । इसीलिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का इतना विकास हुआ और वह अद्वैत वेदान्त के मुख्य समालोचक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आज भी अविचल खड़ा है ।

***
**
*

****

द्वितीय अध्याय

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्य

****

1. <u>प्रमाण</u> :

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण
1. प्रत्यक्ष के भेद
2. स्मृति का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव
3. प्रत्यभिज्ञादि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव

(ख) अनुमान प्रमाण
1. अनुमान के भेद
2. अनुमान के पञ्चावयव
3. हेत्वाभास निरूपण
4. उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव
5. अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव

(ग) शब्द प्रमाण
1. सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता
2. स्मृत्यादि की प्रामाणिकता
3. पुराणादि की प्रामाणिकता
4. सहस्रगीति एवं श्रीभाष्य की प्रामाणिकता

2. <u>प्रमेय</u> :

1. प्रमेय क्या है ?
2. प्रमेयों का वर्गीकरण

(क) द्रव्य
1. जड द्रव्य
2. अजड द्रव्य

(ख) अद्रव्य

प्रमाण –

विशिष्टाद्वैत दर्शन में वैशेषिकाभिमत सप्तपदार्थी अथवा नैयायिकाभिमत षोडशपदार्थी सिद्धान्त को स्वीकार न करके, द्विपदार्थी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है । ये दोनों पदार्थ प्रमाण एवं प्रमेय नाम से अभिहित किये गये हैं । श्रीनिवासाचार्य ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा कि प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं।[1] इस वाक्य में लक्ष्य प्रमाण है तथा लक्षण है प्रमाकरणत्व । प्रश्न है कि प्रमा किसे कहते है ? जो वस्तु जैसी है, उसके उसी प्रकार के व्यवहार के अनुकूल जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रमा कहते हैं।[2] इस वाक्य में प्रमा लक्ष्य है तथा यथावस्थितव्यवहारानुकूल–ज्ञानत्व उसका लक्षण है । पुनश्च प्रश्न है कि करण किसे कहते हैं ? किसी कार्य के सम्पादक कारणों में जो सर्वोत्कृष्ट या अतिशयित कारण होता है, उसे करण कहते है– 'प्रकृष्टं कारणं करणम्' । महर्षि पाणिनि ने करण को साधकतम कहा है – 'साधकतमं करणम्' अर्थात् जिसका प्रयोग होते ही, शीघ्र ही कार्य पूर्ण हो जाय, उसे करण अथवा साधकतम कहते हैं । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रमा के सर्वोत्कृष्ट साधन को प्रमाण कहते हैं । विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार उक्त प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव – इन तीनों दोषों से सर्वथा मुक्त एवं निर्दुष्ट है ।

विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार प्रमाण की संख्या तीन ही है । प्रमाणों की संख्या के विषय में विभिन्न दार्शनिकों में मतैक्य का अभाव है । इस मतभेद को वेदान्तकारिका में इस प्रकार उल्लिखित किया गया है :–

> ''प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ।
> अनुमानञ्च तञ्चापि साङ्ख्याः शब्दश्च ते उभे ।।
> न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केवलम् ।
> अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ।।

---

1. प्रमाकरणं प्रमाणम् – यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ 9 ।
2. यथावस्थितव्यवहारानुगुणं ज्ञानं प्रमा – वही, पृष्ठ 9 ।

अभाव षष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ।

सम्भवैतिह्ययुक्तानि इति पौराणिका जगुः ।।"

अर्थात् चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं । बौद्ध एवं वैशेषिक प्रत्यक्ष एवं अनुमान, इन दोनों प्रमाणों को ही स्वीकारते है । साङ्ख्य एवं विशिष्टाद्वैती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन प्रमाणों को मानते हैं । नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों को स्वीकारते हैं । प्रभाकर मीमांसक पाँच प्रमाणों को मान्यता देते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति, जबकि भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैती विद्वान् छः प्रमाणों को मानते हैं -- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि । पौराणिक आठ प्रमाणों को स्वीकारते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य । यतीन्द्रमतदीपिकाकार का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः स्वतंत्र रूप से तीन ही प्रमाण हैं । तद्व्यतिरिक्त प्रमाणों का उन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण –

साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ।[1] साक्षात्कारिणी प्रमा से अभिप्राय ऐसे ज्ञान से है जो वस्तु एवं इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है । तर्कभाषाकार आचार्य केशव मिश्र कहते हैं – "साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा" अर्थात् विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे साक्षात्कारिणी प्रमा कहते हैं । यद्यपि अनुमान एवं शब्द प्रमाण से भी प्रमा होती है, किन्तु वह साक्षात्कारिणी नहीं होती, अपितु वह अनुमिति प्रमा तथा शाब्दी प्रमा होती है । साक्षात्कारिणी प्रमा अनुमान से भिन्न है, क्योंकि अनुमान में इंद्रिय – वस्तु सम्बन्ध नहीं स्थापित होता । प्रत्यक्ष में इन्द्रियां वस्तु को ग्रहण करती हैं और मन द्वारा आत्मा

---

1. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् , यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ 14 ।

को वस्तु का साक्षात्कार कराती है । अथवा, द्रव्यरूप ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से निकल कर वस्तु (द्रव्य) से संयुक्त होता है ।[1] साक्षात्कार आत्मा को होता है क्योंकि प्रत्यक्षीकरण में आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रियों से तथा इन्द्रियां विषयों से । विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध दो प्रकार से होता है – संयोग और संयुक्ताश्रयण । जब इन्द्रियां द्रव्य को ग्रहण करती हैं तो संयोग सम्बन्ध होता है, किन्तु जब वे द्रव्य के रूप इत्यादि गुणों का ग्रहण करती हैं तो संयुक्ताश्रयण सम्बन्ध होता है । गुण, द्रव्य पर आश्रित हैं, इसलिए उनका ग्रहण द्रव्य से अलग करके नही हो सकता । द्रव्य और गुण का संयुक्त प्रत्यक्ष होने के कारण गुणों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और उनके विषय में संयुक्ताश्रयण सम्बन्ध माना गया है । वस्तु और ज्ञान का संयोग सम्बन्ध होता है अतः दोनों, ज्ञान और ज्ञान का विषय, अलग–अलग वस्तुएं हैं और भिन्न–भिन्न वस्तुओं का ज्ञान भी वैसा ही होता है।[2] किसी ज्ञाता या ज्ञेय वस्तु से संयुक्त हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति होती ही नहीं ।[3]

<u>प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद</u> –

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है – निर्विकल्पक एवं सविकल्पक । गुण तथा संस्थान आदि से विशिष्ट एकजातीय द्रव्यों में प्रथम वस्तु का जो साक्षात्कार होता है, उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहतें है ।[4] प्रत्यवमर्शपूर्वक गुण, संस्थान आदि से विशिष्ट एकजातीय द्रव्यों में से द्वितीय आदि पिण्डों के साक्षात्कारजन्य ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।[5] ये दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष विशेषण–

---

1. ज्ञानमपीन्द्रियद्वारा निःसृत्यार्थेन सन्निकृष्यते, यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ 56 ।

2. अतो ज्ञानवैचित्र्यमर्थवैचित्र्यकृतमेव । तत्तदर्थव्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसम्बन्धायत्तं तत्तदसाधारण्यम् । सम्बन्धश्च संयोगलक्षणः । श्रीभाष्य, 2/2/27 ।

3. न केवलस्यार्थशून्यस्य ज्ञानस्य भावः सम्भवति; कुतः ? क्वचिदप्यनुपलब्धेः न ह्यकर्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुपलब्धिः । वही 2/2/29

4. – निर्विकल्पकं नाम गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमपिण्डग्रहणम्, यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ 15

5. सविकल्पकं तु सप्रत्यवमर्शी गुणसंस्थानादिविशिष्टद्वितीयादिपिण्डग्रहणम्, वही, पृष्ठ 15

विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि निर्विशेष वस्तु के ग्राहक ज्ञान की न तो उपलब्धि होती है और न उस प्रकार का ज्ञान उपपन्न ही हो सकता है ।

आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में प्रत्यक्ष के दो ही भेद स्वीकार किया है । उनमें से किसी विशिष्ट विषय या वस्तु का प्रथम साक्षात्कार या प्रथम पिण्ड ग्रहण ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है ।[1] उनके अनुसार यह एक ऐसा प्रत्यक्ष है जिसमें हम किसी पदार्थ के एक ही उदाहरण का, उसके समान अन्य उदाहरणों के अभाव में भी ज्ञान प्राप्त करते हैं । इस प्रत्यक्ष में भी हम सविशेष वस्तु को ही जानते हैं । केवल अन्य उदाहरणों से उसकी भिन्नता मात्र की ओर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में हम ध्यान नहीं देते हैं । अभिप्राय यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष "प्रथम पिण्ड" का प्रत्यक्ष है । तात्पर्यतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विषय–शून्य या सभी विशेषताओं से शून्य अथवा शुद्ध संवेदन मात्र है । निर्विकल्पक का तात्पर्य है किसी एक विषय या धर्म से रहित ज्ञान ।[2] रामानुज निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अद्वैतियों अथवा नैयायिकों द्वारा मान्य अर्थ में निर्विशेष नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार सभी ज्ञान सविशेष एवं सविषयक है । द्रव्य और गुण, जाति और व्यक्ति, सामान्य और विशेष कभी अलग नहीं हो सकते । अतः किसी निर्गुण द्रव्य का या मात्र जाति अथवा सामान्य का ज्ञान सम्भव नहीं है ।

सविकल्पक प्रत्यक्ष, किसी विशिष्ट विषय या वस्तु का द्वितीय साक्षात्कार या द्वितीय पिण्ड ग्रहण ही है ।[3] दूसरे शब्दों में, सविकल्पक प्रत्यक्ष किसी वस्तु का अपनी जाति के अन्य ज्ञात उदाहरणों के साथ किया गया प्रत्यक्ष है । इसके द्वारा हम किसी वस्तु के

---

1. अतो निर्विकल्पकमेकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम् । श्रीभाष्य, 1/1/1
2. निर्विकल्पकं नाम केनचिद्विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम्, न सर्वविशेषरहितस्य। वही, 1/1/1
3. सविकल्पकमेकजातीयद्रव्येषु द्वितीयादिपिण्डग्रहणमेव । वही, 1/1/1

एक उदाहरण को अकेले नहीं जानते, बल्कि उस वस्तु की जाति एवं साधारण तथा असाधारण गुणों का भी प्रत्यक्ष करते हैं । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की भाँति सविकल्पक प्रत्यक्ष में पहले देखे गये उदाहरणों का अभाव नहीं होता । परिणामस्वरूप सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तुलना में अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण होता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षीकृत गुण ही सविकल्पक प्रत्यक्ष में पुनः देखे जाते हैं, परन्तु इस बार उनका ज्ञान गुण के रूप में होता है । उस स्थिति में हम वस्तु को मात्र वस्तु के रूप मे नहीं ग्रहण करते, बल्कि वस्तु को हम गुणों से संयुक्त करके जानते हैं । एक मेज का सविकल्प प्रत्यक्ष हमारे समक्ष उस मेज को मेज के अन्य उदाहरणों के साथ, उसमें प्राप्त साधारण और असाधारण गुणों के ज्ञान सहित उपस्थित करता है । अर्थात् हम मेज को केवल मेज न जानकर लाल, भूरा अथवा गोल, वर्गाकार, छोटी या बड़ी मेज के रूप में जानते हैं । अभिप्राय यह है कि जब हम किसी वस्तु के अपेक्षामूलक गुणों का प्रत्यक्ष कर उसकी जाति का निश्चय कर लेते हैं और साथ ही यह जान लेते हैं कि वह वस्तु अपनी जैसी ही अन्य वस्तुओं से किस प्रकार भिन्न है, तो हमारा प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है ।

प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण करने से पता चलता है कि आचार्य रामानुज प्रत्यक्षीकरण को चार चरणों में पूरी होने वाली क्रिया मानते हैं । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकरण की प्रथम स्थिति है । उसमें पहले अनुकूल पदार्थो का स्मरण अथवा अनुवृत्ति ज्ञान नही होता । दूसरे चरण में एक के अतिरिक्त दूसरे उदाहरण से सम्पर्क होता है साथ ही पहले सम्पर्क का स्मरण भी रहता है । तीसरा चरण दो या अधिक उदाहरणों के सामान्य गुणों की अनुभूति कराता है । चौथा और अन्तिम चरण सामान्य और विशेष गुणों को स्पष्ट करता है । सविकल्पक प्रत्यक्ष दूसरे चरण से प्रारम्भ होता है और चौथे चरण में पूर्ण हो जाता है । प्रत्यक्ष प्रमाण की यह विशेषता है कि इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान का विषय प्रत्यक्षीकरण का समकालिक होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष, उसी वस्तु का बोध कराता है जो वर्तमान

(प्रत्यक्ष होने के) समय में विद्यमान रहती है । यह नियम सभी प्रकार के ज्ञान एवं प्रमाणों पर लागू नहीं होता, क्योंकि स्मृति, अनुमान, आगम (शब्द) योगिप्रत्यक्ष आदि में भिन्न काल की वस्तु का भी ज्ञान देखा जाता है ।[1]

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रख्यात तथा अन्य दर्शनों में अचर्चित प्रत्यक्ष के कुछ अन्य विभागों का उल्लेख प्रासंगिक होगा । प्रथमतः विभाजित प्रत्यक्ष के दो भेदों – निर्विकल्पक एवं सविकल्पक के पुनः दो–दो भेद होते हैं – अर्वाचीन व अनर्वाचीन । अर्वाचीन का अर्थ है जन्य और अनर्वाचीन का अर्थ है अजन्य । अर्वाचीन के भी दो भेद होते हैं – इन्द्रियसापेक्ष एवं इन्द्रियनिरपेक्ष । इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का होता है – स्वयंसिद्ध एवं दिव्य । स्वयंसिद्ध योग से उत्पन्न होता है तथा दिव्य प्रत्यक्ष भगवान् की कृपा से होता है । अनर्वाचीन प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय निरपेक्ष ही होता है । नित्य, मुक्त जीवों तथा ईश्वर का ज्ञान अनर्वाचीन प्रत्यक्ष है ।[2] नित्य, मुक्त जीवों के अनर्वाचीन प्रत्यक्ष के विषय में सामश्रुति भी कहती है -- 'सदा पश्यन्ति सूरयः' ईश्वर तो सर्वदा सभी विषयों का साक्षात्कार करता ही है, उसके साक्षात्कार में देश और काल का व्यवधान बाधक नहीं बनता है ।

<u>स्मृति का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव</u> –

यह पूर्व निर्धारित तथ्य है कि यथावस्थितव्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहते हैं और उस प्रमा के साधकतम को प्रमाण कहते हैं, तो स्मृति को भी एक स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि स्मृति भी यथावस्थितव्यवहार के अनुकूल ज्ञान का जनक है । किन्तु विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि यद्यपि हम स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, फिर भी वह संस्कार

---

1. इन्द्रियजन्मनः प्रत्यक्षस्य ह्येष स्वभावनियमः यत्स्वसमकालवर्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्; न सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानाञ्च, स्मरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्तिनोऽपि ग्रहणदर्शनात् । श्रीभाष्य, 1/1/1

2. यतीनद्रमतदीपिका । पृष्ठ, 18 ।

सापेक्ष होती है । संस्कार पूर्वानुभूत वस्तु का ही होता है । स्मृति का मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है ; अतएव उसका अपने मूलभूत प्रमाण प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है ।इस तरह स्मृति उपर्युक्त तीन से अतिरिक्त प्रमाण नहीं माना जा सकता ।[1]

प्रत्यभिज्ञादि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव –

बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता नहीं स्वीकारते, किन्तु विशिष्टाद्वैत दर्शन में उसकी प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है । चूंकि यह ज्ञान पूर्वानुभवजन्य संस्कार तथा वर्तमानकालिकसाक्षात्कारिप्रमा रूप होता है, अतएव इसका भी अपने मूलभूत प्रत्यक्षप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है । अभाव के विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद है । वैशेषिक विद्वान् अभाव को उसके आश्रय का विशेषण रूप मानकर उसका ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं । अद्वैती विद्वान् अभाव का ग्राहक अनुपलब्धि प्रमाण को मानते हैं । विशिष्टाद्वैती अभाव को भावान्तर रूप मानते हैं । उनका कहना है कि अभाव चार प्रकार का होता है – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव । घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड – स्वरूप है, घट का प्रध्वंसाभाव कपाल–स्वरूप होता है । पट में घट का अन्योन्याभाव घट – स्वरूप है तथा पृथ्वी पर घट का अत्यन्ताभाव पृथ्वी – स्वरूप है । इनका साक्षात्कार भावान्तर रूप से होने के कारण अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है । 'ऊह' तर्कापरपर्याय रूप है । उसमें भी ऊहित वस्तु का साक्षात्कार किये जाने के कारण उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है । 'संशय' के अन्तर्गत इन्द्रिय सन्निकृष्ट वस्तु के स्वरूप का निर्णय किसी कारणवश नहीं हो पाता । वह कारण अन्धकार, अथवा देश एवं काल की विप्रकृष्टता आदि कुछ भी हो सकता है । यथा- अन्धकारस्थ वस्तु को देखकर यह संशय होता है कि यह क्या कोई आदमी है या खम्भा है? इस संशय का भी प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है । 'प्रतिभा' किसी पुण्यात्मा के भीतर पायी

---

1. यतीन्द्रमतदीपिका । पृष्ठ – 19 ।

जाती है । यह बुद्धि की तीव्रता रूप होती है अथवा मानस प्रत्यक्ष रूप होती है । विचारकों ने नवनवोन्मेषशालिनिबुद्धि को 'प्रतिभा' कहा है । यह चूंकि मानस प्रत्यक्षात्मिका होती है अतएव उसका भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है ।[1]

अनुमान प्रमाण –

अनुमान, ज्ञान का दूसरा प्रमाण है । यह प्रत्यक्ष पर आधारित है, फिरभी उससे भिन्न है । प्रत्यक्ष से अनुमान का भेद इस आधार पर किया जाता है कि अनुमान इन्द्रिय–संनिकर्ष के अभाव में भी उत्पन्न होने वाला वस्तुज्ञान है । अनुमान द्वारा हम उस नये विषय का अन्वेषण करते है जो प्राप्त ज्ञान पर आधारित होता है एवं तत्काल अनुपस्थित है । अनुपलब्ध को उपलब्ध करना ही अनुमान का फल है । अनुमान, जो प्रत्यक्ष के समान ही सविशेष विषयक है[2], अनुमिति ज्ञान का करण है । व्याप्य के व्याप्यत्वानुसंधान हेतु के द्वारा व्यापक विशेष की प्रमा को अनुमिति (अनुमान ज्ञान) कहते हैं । उस अनुमिति का साधकतम अनुमान प्रमाण है ।[3] यथा-व्याप्य धूम की अग्नि के व्याप्यत्वानुसंधान के द्वारा व्यापक विशेष की प्रमिति (प्रमा) रूप अग्नि विशेष की प्रमिति को अनुमिति कहते हैं ।

व्याप्ति-निरूपण –

व्याप्य साध्य की अपेक्षा अधिक देश तथा अधिक काल में नहीं रहता है । व्यापक, व्याप्य की अपेक्षा न्यून देश अथवा न्यून काल में नहीं रहता है । व्याप्य, व्यापक का अविनाभूत है अर्थात् व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रहता । व्यापक व्याप्य का प्रतिसम्बन्धी

---

1. यतीन्द्रमतदीपिका । पृष्ठ – 22 ।
2. अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादि दृष्टसंबध विशिष्ट विषयत्वादनुमानपति सविशेष विषयमेव – श्रीभाष्य , 1/1/1 ।
3. व्याप्यस्य व्याप्यत्वानुसंधानात् व्यापकविशेषप्रमितिरनुमिति । तत्करणमनुमानम् । यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ 34 ।

होता है । व्याप्य से व्यापक का उपाधि-रहित सम्बन्ध 'व्याप्ति' कहलाती है । उस व्याप्ति का ग्रहण; जहाँ – जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ अग्नि होती है ; इस प्रकार बार–बार देखने से होता है ।[1] जब दो वस्तुएं नित्य अनौपाधिक रूप में एक साथ उपस्थित हों तो उनमें व्याप्ति सम्बन्ध होता है । यदि वे दोनों एक ही साथ पूर्वोक्त ढंग से अनुपस्थित हों तब भी उनमें व्याप्ति सम्बन्ध होता है । इस प्रकार व्याप्ति दो प्रकार की होती है – अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति । अन्वयव्याप्ति ऐसी व्याप्ति है जिसमें व्यापक और व्याप्य अनिवार्य रूप से एक साथ देखे या पाये जाते हैं ।[2] जैसे जो–जो धूम वाला होता है, वह–वह अग्नि वाला होता है । व्यातिरेकव्याप्ति तब होती है जब व्यापक और व्याप्य अनिवार्यतः एक साथ अनुपस्थित रहते हैं ।[3] यथा जो–जो अग्निरहित होता है, वह–वह धूम रहित होता है । व्याप्ति सम्बन्ध कई बार के प्रत्यक्ष होने पर स्थापित किया जाता है । जब एक वस्तु (व्यापक अथवा लिंग) का सहचर्य बिना अपवाद के दूसरी वस्तु (व्याप्य या साध्य) के साथ देखा जाय तो उनमें व्याप्ति सम्बन्ध समझना चाहिए । अग्नि और धूम में इसी प्रकार का नित्य सम्बन्ध है । व्याप्ति के अनौपाधिक होने का तात्पर्य यह है कि व्यापक (लिंग) स्वाभाव से ही व्याप्य में उपस्थित है, किसी विशेष काल या द्रव्य के कारण नहीं । अग्नि में धूम गीले इंधन के कारण होता है, अग्नि के स्वभाव से नहीं ।

<u>उपाधि-निरूपण</u> –

जो साध्य में व्यापक रहते हुए साधन में व्यापक न हो, उसे 'उपाधि' कहते है।

---

1. निरूपाधिकतया नियतसम्बन्धो व्याप्तिरित्युक्तं भवति । सेयं यत्र धूमस्तत्र वह्निरिति व्याप्तिर्भूयोदर्शनेन गृह्यते । यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ 34 ।
2. साधनविधौ साध्यविधिरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः । वही, पृष्ठ 34 ।
3. साध्यनिषेधे साधननिषेधरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिर्व्यतिरेक-व्याप्तिः । वही, पृष्ठ 34

यथा -- वह्निरूपी साधन के द्वारा धूम रूपी साध्य की सिद्धि में आर्द्रेन्धन–संयोग उपाधि है।[1] 'जो मैत्री का पुत्र होता है,वह श्याम वर्ण का होता है।यहाँ पर शाकपाकजत्व उपाधि है । वह उपाधि दो प्रकार की होती है – निश्चित एवं शंकित । निश्चित उपाधि का उदाहरण है – विवादास्पद सेवा दुःखद होती है, क्योंकि वह सेवा राजा की सेवा के समान है। यहाँ पर पापारब्धत्व उपाधि है। किन्तु दुःखप्रदत्व ईश्वर की सेवा में नहीं है, यह निश्चय हो जाने से निश्चितोपाधि है। शंकितोपाधि का उदाहरण है– विवादास्पद जीवन इस शरीर की समाप्ति पर मुक्ति प्राप्त कर लेगा, क्योंकि उसकी समाधि शुक आदि के समान निष्पन्न हो गयी है। यहाँ पर कर्मों का अत्यन्त विनाश ही उपाधि है। वह कर्मो का आत्यन्तिक विनाश इस निष्पन्न समाधि वाले जीव का हो चुका है कि नहीं ? यह सन्दिग्ध है, अतएव यह शंकितोपाधि का उदाहरण है।

<u>व्याप्यनिरूपण –</u>

व्याप्य, साधन तथा लिङ्ग, ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।[2] अनुमिति के अङ्गभूत व्याप्य के दो रूप होते हैं – व्याप्ति और पक्षधर्मता। इनमें से व्याप्ति का निरूपण पहले ही किया जा चुका है। पक्ष में व्याप्य का धर्म रूप से पाया जाना ही व्याप्य की 'पक्षधर्मता' है। "व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वं पक्षधर्मता" अर्थात् अग्नि–व्याप्य धूम की, पर्वत रूपी पक्ष में विद्यमानता ही व्याप्य की पक्षधर्मता है। इस पक्षधर्मता का ज्ञान हुए बिना व्याप्ति का ज्ञान होने पर भी व्याप्य के द्वारा व्यापक की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे– जब तक हम यह नहीं जान लें कि पर्वत धूमवान् है, तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि पर्वत अग्निमान् है। अतएव व्याप्ति के ज्ञान के साथ–साथ अनुमान के लिए पक्षधर्मता का ज्ञान होना अनिवार्य है।

---

1. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। यथा–वह्निना धूमे साध्यमाने आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः।– यतीन्द्रमतदीपिका पृष्ठ – 36

2. व्याप्यं साधनम्, लिङ्गमित्यनर्थान्तरम्। वही,पृष्ठ– 36.

व्याप्यके पाँच रूप भी होते हैं– पक्षमें धर्मरूप से रहना, सपक्ष में पाया जाना, विपक्ष में रहना, अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व। अनुमान के द्वारा जिस धर्म को सिद्ध करना अभिप्रेत होता है उस धर्म से जो विशिष्ट होता हे, उसे 'पक्ष' कहते हैं। जेसे – अग्निमत्व आदि की सिद्धि में पर्वतादि पक्ष हैं। सिषाधयिषित धम्र के सजातीय धर्म से जो विशिष्ट धर्मी होता है, उसे 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे – महानस आदि। 'विपक्ष' उसे कहते हैं, जो साध्य तथा साध्य के सजातीय धर्म से रहित होता है। जैसे– महाह्रद (महासरोवर) आदि। प्रबल प्रमाण के द्वारा पक्ष में साध्य के अभाव का निश्चित हो जाने को 'बाधितविषयत्व' कहते हैं। जैसे-- प्रत्यक्ष रूपी प्रबल प्रमाण से सिद्ध है कि महाह्रद में अग्नि का अभाव है। अतएव महाह्रद में व्याप्य की बाधित विषयता है। व्याप्य की बाधितविषयता का न होना ही 'अबाधितविषयत्व' है। समान रूप से बलवान प्रतीत होने वाले प्रमाण के द्वारा व्याप्य में किसी प्रकार के उपरोध के न होने को 'असत्प्रतिपक्षत्व' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार का व्याप्य दो प्रकार का होता है– अन्वयव्यतिरेकी और केवलान्वयी। पूर्वोक्त पाँच रूपों से सम्पन्न व्याप्य 'अन्वयव्यतिरेकी' व्याप्य होता है। जैसे–पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि वह धूमवाला है। जो–जो धूमवाला होता है। वह – वह अग्निवाला – होता है जैसे – महानस। जो अग्निरहित होता है वह निर्धूम होता है, जैसे-- ह्रद। उपर्युक्त प्रकार का ही विपक्षरहित व्याप्य जैसे ब्रह्म शब्दवाच्य है, क्योंकि वह वस्तु है, जैसे – घट। विपक्ष के न होने के कारण केवलान्वयी व्याप्य के चार ही रूप होते हैं। केवलव्यतिरेकी हेतु का साध्य अप्रसिद्ध होता है, अतःउसका व्याप्तिग्रह हो सकना कठिन है । अतएव विशिष्टाद्वैत दर्शन में केवलव्यतिरेकी अनुमान नहीं स्वीकारा जाता है। पुनश्च, विशिष्टाद्वैत दर्शन में केवलान्वयि तथा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थ की भी अनुमिति नहीं स्वीकार की जाती है।

<u>अनुमान के भेद :-</u>

न्यायशास्त्र में अनुमान के दो भेद माने जाते हैं – स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान व्यक्ति अपने लिए स्वयं करता है, जबकि परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है । अग्नि और धूम के बीच प्राप्य व्याप्ति का ज्ञान लेकर देवदत्त किसी पर्वत के पास जाता है, वहाँ वह धुआँ उठता हुआ देखकर, धुआँ और आग के सम्बन्ध का स्मरण करके यह जान लेता है कि पर्वत पर आग है । देवदत्त द्वारा किया गया अनुमान स्वार्थानुमान का उदाहरण है । स्वार्थानुमान में अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का ही प्रयोग होता है । परार्थानुमान दूसरों के लिए किया जाता है इसलिए उस के पाँच अवयव होते हैं या यह कह सकते हैं कि साध्य की सिद्धि पाँच चरणों में की जाती है । ये चरण क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन कहलाते हैं । विशिष्टाद्वैत दर्शन में यह स्वीकार किया जाता है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु के द्वारा ज्ञाता को जो ज्ञान होता है, वह अपने लिए ही होता है । अतएव सभी अनुमानों को स्वार्थ ही मानना चाहिए, उनका परार्थानुमान नामक भेद मानना उचित नहीं है ।[1]

अनुमान के आगमनात्मक और निगमनात्मक प्रकारों का भी 'श्रीभाष्य' में उल्लेख मिलता है । रामानुजाचार्य इस विभाजन को सामान्यतोदृष्ट और विशेषतोदृष्ट कहते हैं ।[2]

<u>अनुमान के पञ्चावयव –</u>

अनुमान का बोधक वाक्य पाँच अवयवों से सम्पन्न होता है -- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । 'प्रतिज्ञा'–वाक्य में पक्ष को साध्य से सम्पन्न बतलाया जाता है । जैसे – पर्वत अग्नि वाला है, यह वाक्य । 'हेतु'–वाक्य में साध्य के साधक लिङ्ग का निर्देश किया जाता है, जैसे – क्योंकि पर्वत पर धूम है । 'उदाहरण'– वाक्य में साधन एवं साध्य में अव्यभिचरितसम्बन्ध रूपा व्याप्ति को बतलाकर दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है ।

---

1. सर्वेषामेवानुमानानां स्वप्रतिसन्धानादिबलेन प्रवृत्ततया स्वव्यवहारमात्रहेतुत्वमिति स्वार्थानुमानमेवेत्यपरे । यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ : 42 ।

उदाहरण दो प्रकार का होता है -- अन्वय उदाहरण और व्यतिरेक उदाहरण । जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, यह अन्वय उदाहरण है । जो अग्निरहित होता है वह धूमरहित होता है, जैसे – सरोवर। यह व्यतिरेक उदाहरण हे । दृष्टान्त का अवमर्श करने के कारण व्यापक रूप से हेतु का पक्ष में उपसंहार करने को 'उपनय' कहते हैं । उपनय भी दो प्रकार का होता है – अन्वय उपनय और व्यतिरेक उपनय । ' इसी तरह से (यह पर्वत भी) धूम वाला है ' यह अन्वय उपनय है । यह वैसा निर्धूम नहीं है, यह व्यतिरेक उपनय है । जिस वाक्य में पहले पक्ष में हेतु को बतलाकर पक्ष में साध्य का उपसंहार किया जाए, उसे 'निगमन' वाक्य कहते हैं । निगमन–वाक्य भी अनवय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का होता है । जैसे – अतएव यह (पर्वत) अग्नि वाला है, यह अनवय् निगमन का उदाहरण है । अतएव यह अग्निरहित नहीं है, यह व्यतिरेक निगमन का उदाहरण है ।

अनुमान के इन पाँच अवयवों को नैयायिक स्वीकार करते हैं । मीमांसक, प्रतिज्ञा, हेतु और उदहारण इन तीन अवयवों को स्वीकारते हैं । बौद्ध अनुमान के उपनय और निगमन इन दो अवयवों को ही स्वीकार करते हैं, जबकि विशिष्टाद्वैत में यह कोई नियम नहीं है कि अनुमान के कितने अवयव स्वीकार किये जाएँ । कहीं पर पाँच अवयव, कहीं पर तीन अवयव और कहीं पर दो अवयव ही वे स्वीकारते हैं, क्योंकि उदाहरण और उपनय, इन दोनों से ही व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के सिद्ध हो जाने से उन दो अङ्गों से ही अनुमान की सिद्धि हो जाती है । कोमल बुद्धिवालों के लिए विस्तारपूर्वक, मध्यम बुद्धिवालों के लिए मध्यम प्रकार से तथा कठोर बुद्धिवालों के लिए संक्षेप में ही अनुमान का ज्ञान हो जाता है । फलतः सिद्ध होता है कि उपर्युक्त अवयवों से युक्त सद्हेतु ही वह्नि आदि के अनुमान का साधन है । सद्हेतु कहने से सिद्ध हो गया कि धूम के सदृश प्रतीत होने वाले कहीं धूलि–समूह को देखकर उसके द्वारा वहाँ पर अग्नि के होने का अनुमान नहीं किया जा सकता है ।

हेत्वाभास – निरूपण :–

जो सद्हेतु से भिन्न होकर भी हेतु के समान प्रतीत होते हैं, वे हेत्वाभास कहलाते है ।[1] हेत्वाभास पाँच हैं – असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट । उनमें भी असिद्ध तीन प्रकार का होता है – स्वरूपासिद्ध, आश्रयसिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध । जीव अनित्य है, क्योंकि वह घट के समान चाक्षुष् है (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनता है)। यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है (क्योंकि पक्षभूत जीव में चाक्षुषत्व ही असिद्ध है) । आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है कि – आकाशकमल सुगन्धित होता है, क्योंकि वह सरोवर में होने वाले कमल के समान हैं । हेतु का आश्रय व्योमारविन्द (आकाश–कमल) है, किन्तु वह असिद्ध ही है। व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का होता है, एक तो व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव के कारण और दूसरा उपाधि के कारण । पहले का उदाहरण है – जो सत् होता है वह क्षणिक होता हे । क्षणिकत्व एवं सत्व का व्याप्तिग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं होता । द्वितीय, व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है – अग्निषोमीय याग में होने वाली हिंसा से अधर्म होता है, क्योंकि वह यज्ञ के बाहर की जानें वाली हिंसा के समान है । यहाँ पर निषिद्धत्व उपाधि है । अतएव यहाँ हिंसात्व हेतु सोपाधिक है । साध्य के विपरीत अर्थ में व्यापक हेतु विरुद्ध हेतु होता है । जैसे – प्रकृति नित्य है, क्योकि वह काल के समान कार्य है । यहाँ पर कृतकत्व–(कार्यत्व) हेतु नित्यसाध्य के विपरीत अनित्यत्व में व्यापक है । व्यभिचार से युक्त हेतु अनैकान्तिक होता है । अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार होता है – साधारण तथा असाधारण । पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में पाया जाने वाला अनैकान्तिक हेत्वाभास साधारण है । जैसे – शब्द नित्य है, क्योंकि काल के समान वह प्रमेय है । असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास तो केवल पक्ष में ही पाया जाता है , सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं । जैसे–पृथिवी नित्य है, क्यों-कि वह आकाश के समान गन्धवती है । प्रकरणसम हेतु ऐसा हेत्वाभास होता है कि उसके

---

1. हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः । यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ : 44 ।

साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु बना रहता है । जैसे – ईश्वर नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्मों से रहित है । यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर नित्य नहीं है, क्योंकि वह नित्य धर्मों से रहित है । प्रकरणसम का ही दूसरा नाम सत्प्रतिपक्ष है । जिस हेतु के पक्ष में साध्य का आभाव रहता है, वह कालात्ययापदिष्ट हेतु कहलाता है । जैसे – अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह जल के समान पदार्थ है । इस हेतु का साध्य अनुष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही अग्नि के उष्णत्वावधारण से बाधित हो जाता है ।

उपमान का अनुमान आदि में अन्तर्भाव –

विशिष्टाद्वैत दर्शन में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जाता । विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार उपमान स्मृति और प्रत्यक्ष का संयुक्त रूप है । जब कोई व्यक्ति ' गो सदृश गवयः ' इस अतिदेश वाक्य को जानकर वन में जाता है तो गो सादृश्यविशिष्ट पिण्ड को देखकर उसे अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण होता है तथा उस व्यक्ति को गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड का ज्ञान होता है । उस ज्ञान के स्मरणस्वरूप होने के कारण उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है । चूँकि यह पिण्ड गो के सदृश है, अतएव गवय है ; इस प्रकार का ज्ञान व्याप्तिजन्य है, अतएव इसका अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है । पुनश्च वह ज्ञान वाक्यजन्य होता है, अतएव उसका शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव होता है ।[1]

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव –

अद्वैतवेदान्त और मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण माना जाता है परन्तु विशिष्टाद्वैती अर्थापत्ति को निगमनात्मक अनुमान मानते हैं । अर्थापत्ति में हम एक सत्य से दूसरे सत्य की उपलब्धि करते हैं । ' देवदत्त मोटा है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता' यह सुनकर श्रोता यह अनुमान करता है कि देवदत्त रात्रि में अवश्य खाता होगा । यह

---

1. तस्य स्मरणरूपत्वात्प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः, व्याप्तिग्रहापेक्षत्वादनुमानेऽन्तर्भावः, वाक्यजन्यत्वाच्छब्दे चान्तर्भाव ऊह्यः । यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ : 48 ।

अनुमान मोटा होने और भोजन करने के बीच व्याप्ति पर आधारित है । देवदत्त रात्रि में भोजन करता है इसका हम प्रत्यक्ष नहीं करते, केवल अनुमान करते हैं । ध्यातव्य है कि यहाँ व्याप्ति मोटा होने और भोजन करने के बीच है, मोटा होने और रात्रि में भोजन करने के बीच नहीं । इसलिए रात्रि में भोजन करने का अनुमान उचित व्याप्ति के अभाव में नहीं किया जा सकता । इस शंका का समाधान यह कह कर किया जाता है कि मोटापा और भोजन के बीच प्राप्त व्याप्ति संबंध के आधार पर देवदत्त द्वारा भोजन करने का निश्चय किया जाता है । चूँकि वह दिन में भोजन नहीं करता, ऐसा हम प्रत्यक्ष जानते हैं इसलिए हम देवदत्त के लिए रात्रि भोजन का समय निश्चित करते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थापत्ति अनुमान ही है, इसे पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

शब्द प्रमाण –

जो अनाप्त व्यक्ति के द्वारा नहीं कहा गया हो, उस वाक्य से उत्पन्न वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही शब्दज्ञान है । उस शब्दज्ञान के साधकतम को 'शब्दप्रमाण' कहते हैं ।[1] वस्तुत लक्षण में अनाप्तानुक्त पद का सन्निवेश करके वेदों को पौरुषेय मानने वाले नैयायिकों के मत का निरास किया गया है । तात्पर्य यह है कि शाब्दज्ञान के जनक वाक्य का किसी पुरुष के द्वारा उक्त होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय हैं । उनका प्रवक्ता कोई पुरुष नहीं है । ईश्वर भी उन वाक्यों के स्वतन्त्र वक्ता नहीं हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् पूर्व–पूर्वक्रमविशिष्ट वेदों को स्मरण करके ब्रह्मा को उनका उपदेश देते हैं । इससे स्पष्ट है कि ईश्वर भी वेदों के वक्ता नहीं है । सर्वदा एक समान आनुपूर्वी से युक्त रहना ही वेदों की नित्यता है । वेदों की रचना किसी पुरूषबुद्धि के अधीन नहीं हुई है । कहा भी गया है ।

'अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः ।।'

---

1. अनाप्तानुक्तवाक्यजनिततदर्थविज्ञानं शाब्दज्ञानम् । तत्करणं शब्दप्रमाणम् । यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ : 53

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् से आदि और अन्त रहित वेदरूपी दिव्यवाणी निस्सृत हुई, जिससे कि सारी सृष्टि हुई । ऋक् आदि विविध भेदों वाली वेदवाणी की नित्यता तथा अपौरूषेयता का प्रतिपादन मुक्तकण्ठ से करती हुई श्रुति भी कहती है – 'वाचा विरूपनित्यया वृष्णे चोदस्व'। श्रुति का अर्थ है -- हे वृष्णि ! ऋक् आदि अनेक रूपों वाली नित्य वेदवाणी के द्वारा श्रीभगवान् को प्रसन्न करो ।

शब्दप्रमाण का दूसरा लक्षण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं – जो कारणदोष एवं बाधकज्ञान से रहित होता है, वही वाक्य शाब्दप्रमा का जनक होता है ।[1] चूँकि वेद नित्य है, अतएव पौरूषेय वाक्यों में होने वाले – भ्रम, प्रमाण, करणापाटव एवं विप्रलिप्सा रूपी कारणदोषों का अभाव है । वेद वाक्य यथार्थ ज्ञान का प्रतीपादन करते हैं, अतएव उन ज्ञानों का कोई बाधक ज्ञान नहीं है । इस प्रकार वेदवाक्य शाब्दप्रमा के जनक हैं । लोक में भी आप्त पुरूषों द्वारा प्रोक्त वाक्य कारणदोष तथा बाधकप्रत्यय से रहित होते हैं । अतएव वे भी शाब्दप्रमा के जनक होते हैं ।

सम्पूर्ण वेद की प्रमाणिकता –

विष्टताद्वैत दर्शन में सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है । यह माना जाता है कि वेद का कोई भी अंश अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उसके यथार्थ का प्रतिपादन किया जाता है । किन्तु प्राभाकर – मीमांसकों का कहना है कि वेद के उन्हीं वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार किया जा सकता है, जो वाक्य किसी कार्य का प्रतिपादन करते हों। वेदों के उपनिषद् भाग के वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं । ब्रह्म सिद्ध पदार्थ है, अतएव सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं स्वीकार जा सकता । इस तरह

---

1. कारणदोषबाधकप्रत्ययाभाववद्वाक्यं वा । यतीन्द्रमत0 – पृष्ठ : 53

सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य कैसे स्वीकार्य होगा ? इस शंका के समाधान में विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का भी हम उपासन रूप कार्य में अन्वय (सम्बन्ध) स्वीकार करते हैं । किञ्च, 'तुम्हारे पिता सुखी हैं' यह सिद्ध पिता–विषयक लौकिक वाक्य की भी व्युत्पत्ति देखी जाती है । लोक में माता–पिता आदि, ये तुम्हारी माँ है, ये तुम्हारे पिता हैं , ये तुम्हारे मामा हैं, इत्यादि कहकर तथा उंगली से दिखा–दिखाकर, उन वाक्यों के वक्ता तत्–तत् सिद्ध वस्तु–विषयक शब्दों का प्रयोग करते है और उन शब्दों को सुनकर बालकों को उन सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान होता है, यह सर्वविदित तथ्य है । इसी तरह वेद में भी सिद्ध वस्तु ब्रह्म विषयक शब्दों के द्वारा सिद्ध ब्रह्म का ज्ञान होता है, अतएव उन वाक्यों के अप्रामाण्य की आशंका निर्मूल है ।

पुनश्च, वेदों की प्रामाणिकता के विषय में दूसरी आशंका यह हे कि अभिचार इत्यादि कर्मों के प्रतिपादक वाक्यों को प्रामाणिक कैसे स्वीकार किया जाता है ? उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि अभिचारादि कर्मों के प्रतिपादक वेदांश का दृष्ट शत्रु–मारणादि फलों को दिखलाकर अदृष्ट स्वर्गादि फलों के साधन में उन पुरुषों को प्रवृत्त करते हैं, यही अंश का लक्ष्य है । 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य आदित्य के समान यूप प्रकाशित हो रहा है, इस अर्थ के प्रतिपादन में है । अतएव वेद के उन अंशों की भी प्रामाणिकता स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, जिसमें व्याभिचार आदि कर्मों के प्रतिपादक वाक्य हैं । अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वेद प्रामाणिक अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं ।

वेद का विभाग –

उस प्रामाणिक वेद के दो भाग हैं – पहला पूर्व भाग दूसरा उत्तर भाग । पूर्व भाग में कर्मों का प्रतिपादन किया गया है और उत्तर भाग में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है । वेदों का पूर्वकाण्ड ब्रह्म की अराधना रूप कर्मों का प्रतिपादन करता है और

उत्तरकाण्ड कर्मो के द्वारा आराध्य ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। वेदों के पूर्वभाग के अर्थों का निर्णय करने के लिए महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा का प्रणयन किया। वेदों के उत्तरभाग के अर्थों के निर्णयार्थ उत्तरमीमांसा प्रवृत्त है। चूँकि ये दोनों मीमांसाएँ एक ही वेदार्थ के निर्णयार्थ प्रवृत्त हैं, अतएव सिद्ध होता है कि ये दोनों मीमांसाएँ एक ही शास्त्र के दो भाग हैं।

उक्त दो भागों से विशिष्ट वेद के चार भेद किये गये हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इसके अतिरिक्त शाखाभेद के कारण वेदों के अनन्त भेद हैं। महर्षि पतञ्जलि ने इन वेदों की शाखाओं की चर्चा करते हुए कहा–'सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बह्वृचः। एकशतमध्वर्युशाखाः। नवधा अथर्वाण।' अर्थात् सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं। अथर्ववेद की नव शाखाएँ हैं तथा यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएँ हैं।

वेदों के प्रकारान्तर से भी तीन भेद किये जाते हैं–मन्त्र, अर्थवाद और विधि। वेदों के मन्त्रभाग में अनुष्ठान करने योग्य अर्थो का प्रकाशन किया गया है। विधिवाक्य के द्वारा विहित याग आदि अर्थो का प्रतिपादक है तथा किसी विषय की स्तुति अथवा निन्दा करने वाला वेद का भाग अर्थवाद कहलाता है। इससे अधिकारी का अनुष्ठान में प्रवृत्त होने में उत्साह बढ़ता है। वेद के उस वाक्य को विधिवाक्य कहते हैं, जो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के साधनभूत अलौकिक अर्थों का विधान करते हैं।

विधि तीन प्रकार की होती हैं–अपूर्वविधि, परिसंख्याविधि एवं नियमविधि।

जो अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं है, उस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला विधिवाक्य अपूर्वविधि है। जैसे-'व्रीहीन् प्रोक्षति' यह वाक्य अपूर्वविधिवाक्य है। क्योंकि विधान के बिना याग में व्रीहि का प्रोक्षण नहीं प्राप्त है। अतएव यह अपूर्वविधि है। जहाँ पर दो की समान रूप से प्राप्ति हो वहाँ पर एक की निवृत्तिपूर्वक दूसरे के विधान करने को परिसंख्याविधि कहते हैं। जैसे-याग में रशना को काटने का विधान है। किसी कार्य को करने के लिए कोई नियम करनेवाला वाक्य नियमविधिवाक्य कहलाता है। जैसे-'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' अर्थात् उस परा विद्या को जानने के लिए मुमुक्षु अधिकारी को चाहिए कि वह हाथ में समिधा आदि उपहारों को लेकर वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ आचार्य का प्रयत्न करे। यह वाक्य विद्याप्राप्ति हेतु आचार्याभिगमन का नियम करता है।

पुनः विधिवाक्यों के अनेक भेद किये जाते हैं। जैसे-नित्यविधि, नैमित्तिकविधि, काम्यविधि एवं प्रायश्चित्तविधि। जिनका अनुष्ठान करना आवश्यक है, उन अर्थों का विधान करनेवाला वाक्य **नित्यविधिवाक्य** है। जैसे-'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्' अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए, यह नित्यविधि है। किसी अवसर-विशेष पर अनुष्ठेय अर्थ का विधान करने वाला वाक्य **नैमित्तिकविधिवाक्य** है। जैसे-पुत्रोत्पत्ति होने पर जातकर्म करने का विधान करने वाला विधिवाक्य। नित्यविधि का अनुष्ठान आजीवन करना होता है। नित्यकर्मों के करने से कोई पुण्य-विशेष नहीं होता, किन्तु उन कर्मों को न करने से पाप होता है। नैमित्तिक कर्मों के करने से पुण्य-विशेष होता है और नहीं करने से पाप भी होता है। नित्य एवं नैमित्तिक विधि-प्रोक्त अर्थों के अनुष्ठान से पाप का विनाश होता है। **काम्यविधि** वह है, जिसके करने से पुण्य-विशेष की उत्पत्ति होती है और न करने से

कोई पाप नही होता है। जैसे–'स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत।' यह वाक्य काम्यविधिवाक्य है। क्योंकि यह काम्य स्वर्ग पदार्थ की प्राप्ति के साधक रूप से अश्वमेध याग के अनुष्ठान को उपाय द्वारा विधान करता है। किये गये पापों के विनाशार्थ तत्–तत् उपायों का विधान करने वाले वाक्य प्रायश्चित्तविधिवाक्य है। जैसे–चन्द्रायण व्रतादि का विधान करने वाले वाक्य इस तरह विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र–स्वरूप वेद के छः अड्.ग हैं– छन्छ, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष एवं व्याकरण। इस तरह साड्.ग वेद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

स्मृति आदि की प्रामाणिकता

'वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः' इस श्रीवचनभूषण के प्रथम सूत्र के अनुसार वेद के अर्थों के निर्णय के साधन में स्मृति का प्रथम स्थान दिया गया है। विशिष्टाद्वैतवेदान्त में उसी स्मृति को प्रामाणिक माना जाता है, जो श्रुति के अनुकूल ही आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त आदि का प्रतिपादन करती हैं। इस रूप में विशिष्टाद्वैत में मनु को परम आप्त माना जाता है। श्रुति भी कहती है–'यन्मनुरवदत् तद् भेषजम्।' अर्थात् मनु ने अपनी स्मृति में जीवनोन्नयन के लिए जिन साधनों का निर्देश किया है, उसे किसी भी मुमुक्षु जीव को उसी तरह से अपने जीवन में उतारना चाहिए, जिस तरह से से कोई रोगी स्वास्थ्य–लाभ के लिए भेषज का सेवन करता है। यद्यपि हिरण्यगर्भ आदि आप्त हैं, फिर भी उनका गुणत्रय (प्रकृति) के अधीन होना संभव है, अतएव उनके द्वारा प्रणीत योग तथा कपिल आदि महर्षियों द्वारा प्रणीत स्मृतियों का उसी अंश में प्रामाण्य है, जिस अंश में उनका मन्वादि स्मृतियों से कोई भी विरोध नहीं है। विरोधस्थल में तो मनुस्मृति का ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। मनुस्मृति की प्रामाणिकता के समर्थन में कहा भी कहा गया है–'वेदेषु पौरुषं सूक्तं धर्मशास्त्रेषु मानवम्।' अर्थात् चारों वेदों में पठित पुरुषसूक्त

का जिस तरह से सर्वाधिक प्रामाण्य माना जाता है, उसी तरह से मनुस्मृति का भी सभी स्मृतियों में प्रामाण्य स्वीकार्य है।

वेद के ही अर्थों की व्याख्या करने के लिए इतिहास एवं पुराणों की प्रवृत्ति मानी जाती है।'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयते' इस वाक्य में इतिहास और पुराणों को वेदार्थ की व्याख्या का साधन बतलाया गया है। इतिहास में रामायण और महाभारत, इन दो ग्रन्थों का नाम आता है। उनमें रामायण को श्रीवचनभूषणकार ने इतिहास–श्रेष्ठ कहा है। महाभारत और रामायण में आपाततः कहीं–कहीं विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु तत्त्व के विषय में दोनों ग्रन्थों का मतैक्य है। अतएव उन दोनों ग्रन्थों में उसी तरह सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिए जिस तरह आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने वाले वेदान्त–वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है।

<u>अन्य पुराण, आगमादि की प्रामाणिकता</u>

पुराणों के प्रतिपाद्य विषय सर्ग आदि पाँच है। तथाहि–

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।'

अर्थात् पुराणों में निम्न पाँच विषय वर्ण्य हैं– 1. सृष्टि, 2.प्रलय, 3. विभिन्न वंशों का वर्णन, 4. मन्वन्तरों का वर्णन तथा 5. विभिन्न वंशों के चरितों का वर्णन। पुराणों के सात्त्विक, राजस एवं तामस, ये तीन भेद हैं। इनमें तत्त्व के विषय में जहाँ कहीं भी विरोध है, उसे प्रामाणिक नहीं माना जाता है। उससे भिन्न पुराणों के सभी अंशों को प्रामाणिक माना जाता है।

इसी प्रकार पाशुपत आदि आगमों को भी जहाँ वेदानुकूल तत्त्वांश से विरोध है, वहीं उनका प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जाता है, अन्यत्र उनका सर्वत्र प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। पाञ्चरात्र शास्त्र के प्रवक्ता भगवान् श्रीमन्नारायण को माना जाता है। इसका दूसरा नाम भगवच्छास्त्र भी है। पाञ्चरात्र का कहीं भी वेदों से तत्त्व के विषय में विरोध नहीं है, अतएव सम्पूर्ण पाञ्चरात्र का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। पाञ्चरात्र में वेदार्थ, धर्म, वेदान्तार्थ तथा परतत्त्व का उपबृंहण किया गया है। सम्पूर्ण पाञ्चरात्र में चार सिद्धान्तों का वर्णन है– आगमसिद्धान्त, दिव्यसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त एवं तन्त्रान्तरसिद्धान्त। दिव्यसिद्धान्त को ही मन्त्रसिद्धान्त भी कहा जाता है। श्रीपाञ्चरात्र की एक सौ आठ संहिताएँ कही गयी हैं। मन्त्रसिद्धान्त अथवा दिव्यसिद्धान्त एक मूर्तिप्रधान है अर्थात् श्रीभगवान् के पररूप का प्रधान रूप से प्रतिपादन करता है। आगमसिद्धान्त चतुर्मूर्तिप्रधान है। अर्थात् श्रीभगवान् की वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, इन चार मूर्तियों का वर्णन करता है। तन्त्रसिद्धान्त नवमूर्तिप्रधान है तथा तन्त्रान्तरसिद्धान्त भगवान् की तीन–चार मुखों वाली मूर्तियों की आराधना का प्रधान रूप से प्रतिपादन करता है। इस तरह सम्पूर्ण पाञ्चरात्रागम का प्रामाण्य विशिष्टाद्वैत में स्वीकार किया जाता है।

इसी तरह वैखानसागम की भी पूर्णरूप से प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों का भी वही प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जाता, जहाँ उनका वेदों से तत्त्व के विषय में विरोध है। धर्मशास्त्रों के प्रणेता – शाण्डिल्य, पराशर, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा हारीत आदि महर्षि हैं। शिल्पशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि का भी उपर्युक्त अंश में ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। कर्षण आदि तथा गोपुर एवं प्राकार आदि के निर्माण की प्रतिपादिका शिल्पविद्या है। वैद्यक को आयुर्वेद कहते हैं। गान इत्यादि

का निरूपण करने वाली गान्धर्वविद्या है। भरतागम (नाट्यशास्त्र) नृत्त आदि का विधान करता है। इसके अतिरिक्त चौंसठ कलारूपी शास्त्रों में उन्हीं अंशों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, जो तत्त्व, हित एवं पुरुषार्थ का प्रतिपादन करते हैं।

सहस्रगीति तथा श्रीभाष्य की प्रामाणिकता

श्रीशठकोपसूरि आदि दिव्य सूरियों द्वारा ग्रथित श्रीसूक्तियाँ पूर्णरूप से प्रामाणिक हैं। दिव्य सूरियों की संख्या दस मानी जाती हैं। वे हैं– भूतयोगी, सरोयोगी, महायोगी, भट्टनाथसूरि, श्रीभक्तिसारसूरि, कुलशेखरसूरि, योगिवाहन (पाण) सूरि, भक्ताङ्घ्रिरेणुसूरि, परकालसूरि तथा श्रीशठकोपसूरि। इन दिव्य सूरियों ने जिन–जिन सहस्रगीति आदि द्राविडवेदान्त के ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उन सभी का पूर्णरूप से प्रामाण्य विशिष्टाद्वैत में स्वीकार किया जाता है। द्राविडवेदान्त एवं संस्कृतवेदान्त दोनों के रहस्यों को पूर्णरूप से प्रकट करने के कारण भगवद्रामानुजाचार्य आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत श्रीभाष्य ग्रन्थों को विशिष्टाद्वैत में प्रामाणिकतम माना जाता है।

प्रमेय –

सम्पूर्ण चित् और अचित् विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म ही केवल एक तत्त्व या प्रमेय है।[1] उसमें विशेषण एवं विशेष्य तथा विशेषणों में भी पारस्परिक आत्यन्तिक भेद रहने पर भी विशिष्ट वस्तु की एकता एवं प्राधान्य इत्यादि की विवक्षा करके शास्त्रों में एकत्व व्यवहृत होता है तथा ब्रह्मेतर का निषेध किया जाता है। ऐसा न मानने पर सभी प्रमाणों में विरोध उपस्थित होगा। अद्वैत सम्मत एकतत्त्ववाद में निर्विशेष ब्रह्म

---

1. अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्, देखिए–न्यायसिद्धाञ्जन, पृ.2.

मात्र ही सत्य है उसका जीवभाव संसार और जडप्रपञ्च मिथ्या है। विशिष्टाद्वैतसम्मत एकतत्त्ववाद में ब्रह्म निर्विशेष नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण चेतनाचेतनरूपी विशेषणों से विशिष्ट है। इस प्रकार चेतनाचेतनरूपी विशेषणों से विशिष्ट यह ब्रह्म तत्त्व सामान्यरूप से यथार्थ ज्ञान का विषय होने के कारण तथा विशेषरूप से अच्छी तरह से ज्ञातव्य होने के कारण भी प्रमेय कहा गया है।[1]

प्रमेय शब्द के अर्थ के विषय में वैय्याकरणों के दो तरह के विचार हैं–

1 **'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन'** अर्थात् धातु का पहले उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होता है और उसके बाद वह कारक से युक्त होता है। इस पक्ष के अनुसार प्रमेय का अर्थ 'प्रकृष्ट ज्ञान' है। अर्थात् यथार्थज्ञान प्रमा है एवं उसका जो विषय होता है, उसे प्रमेय कहते हैं। इस प्रकार प्रमेय शब्द का अर्थ होता है 'यथार्थ ज्ञान का विषय'। यह प्रमेयत्व सर्वपदार्थसाधारण सामान्यधर्म है।

2 **'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण'** अर्थात् धातु का पहले कारक से सम्बध होता है और उसके बाद उसका उपसर्ग से सम्बन्ध होता है। इस पक्ष के अनुसार प्रमेय शब्द का अर्थ होता है-- मिति अर्थात् ज्ञान का विषय मेय होता है। जो प्रकृष्ट तथा मेय हो, उसे प्रमेय कहते है।[2] अर्थात् जो अच्छी तरह जानने योग्य हो। यह प्रमेयत्व विशेष

---

1. इदमेव चेत्थंभूतं सामान्यतः प्रमाविषयतया विशेषतः प्रकर्षेण मेयतया च प्रमेयमुक्तम्, न्यायसिद्धाञ्जन, पृ. 5

2. प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम्, यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 69.

धर्म है, क्योंकि सभी पदार्थ अच्छी तरह जानने योग्य नहीं हैं। कोई–कोई लाभप्रद पदार्थ ही अच्छी तरह से जानने योग्य होते हैं।

आचार्यवेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थ' न्यायपरिशुद्धि में भी प्रमेय के विषय में कहा है –"अत्र यद्यपि प्रमाविषयः प्रमेयमिति व्युत्पत्या आरोपिताकारव्यवच्छेदार्थया अनारोपितरूपं सर्वं प्रमेयम्, तथापि निःश्रेयसान्तरङ्गतया तदर्थिभिः प्रकर्षेणमेयं प्रमेयमिह विवक्षितम्। यद्विषयेण भ्रमेण संसराम , यद्विषयेण च तत्त्वज्ञानेनापवृज्येमहि, तदिह नः प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम्।" इसका तात्पर्य है कि प्रमा का जो विषय है, वह प्रमेय ही इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह अर्थ प्रमेयकोटि में नहीं आता है, जो आरोपित रूप को लेकर प्रतीत होता है, क्योंकि आरोपित रूप को लेकर वस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमा नहीं है, प्रकृष्ट ज्ञान नहीं है। जो पदार्थ तात्त्विक रूपों को लेकर प्रतीत होते हैं, वे सब प्रमेय कहने योग्य हैं। यद्यपि यह अर्थ प्रमेय शब्द से प्रतीत होता है, तथापि प्रकृत में उसी अर्थ को प्रमेय शब्द से लेना चाहिए जो मोक्ष से घन्ष्ठि सम्बन्ध रखता है, तथा मोक्ष चाहनेवालों को अच्छी तरह से जानना आवश्यक है। जिसके विषय में भ्रम होने के कारण हम संसार में आ गये हैं, जिसके विषय में तत्त्वज्ञान होने पर हम संसार से छूट जायेंगे, वहीं हम लोगों को अच्छी तरह से जानने योग्य हे तथा वही हम लोगों का प्रमेय है।

प्रमेयों का वर्गीकरण –

उस प्रमेय रूप विशिष्ट ब्रह्म तत्त्व के अन्तर्गत सभी पदार्थ द्रव्य और अद्रव्य के रूप में विभक्त हैं। उनमें कई पदार्थ द्रव्य कोटि में निविष्ट होते हैं, कई अद्रव्य कोटि में निविष्ट होते हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो इन कोटियों में निविष्ट न होता हो। अतः प्रमेय द्रव्याद्रव्य भेद से द्विविध ही हैं।

किन्तु वैशेषिकाचार्य महर्षि कणाद ने पदार्थों को सात भागों में विभक्त किया है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और अभाव। तब प्रश्न उठता है कि पदार्थों के द्रव्य एवं अद्रव्य दो ही विभाग सिद्धान्ततः कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं? विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि वैशेषिकों ने कर्म के पाँच भेद किये हैं, किन्तु वे सभी उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन गतिरूप हैं, अतएव उनका पाँच भेद न करके एक ही प्रकार का कर्म मानकर कर्म का लक्षण 'चलनात्मकं कर्म' करना चाहिए। और जहाँ कहीं भी कोई क्रिया होती है, वहाँ पूर्वदेशविश्लेष एवं उत्तरदेशसंयोग का नैरन्तर्य मात्र उपलब्ध होता है। अतएव संयोगातिरिक्त कर्म को अतिरिक्त पदार्थ मानना उचित नहीं है।

इसी तरह वैशेषिक जाति को ही सामान्य शब्द से अभिहित करते हैं। किन्तु जाति प्रत्यक्ष के विषयभूत वस्तु का संस्थानरूप है। उसी का द्वितीय, तृतीय आदि प्रत्यक्षों में परामर्श होता है। 'इयमपि गौः, गोत्वावच्छिन्नत्वात्' इत्यादि रूप से। संस्थानविशेष से भिन्न गोत्वादि जाति नाम का कोई भी पदार्थ नहीं होता, जिसका प्रत्यक्षकाल में साक्षात्कार होता हो तथा द्वितीय, तृतीय आदि प्रत्यक्षों में उसका प्रत्यवमर्श होता हो। अतएव मानना चाहिए, वस्तु का जो असाधारण आकार है, उसे जाति कहते हैं।

वैशेषिक विद्वान् अयुतसिद्ध वस्तुओं के गुण–गुणी, जाति–व्यक्ति आदि में जो विशिष्ट प्रतीति होती है, उस प्रतीति का कारण समवाय नामक सम्बन्ध मानते हैं। इस तरह अयुतसिद्ध उपलब्धियों में जाति आदि का निर्वाहक सम्बन्ध समवाय है। किन्तु वैशेषिकों का यह कथन इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार जाति, व्यक्ति आदि की विशिष्ट प्रतीति का निर्वाहक समवाय है, उसी प्रकार उस समवाय का भी कोई न कोई निर्वाहक

मानना होगा। उस निर्वाहक का भी कोई निर्वाहक अवश्य होगा। इस प्रकार समवाय की मान्यता में अनन्तापेक्षकत्व रूप दोष है। किञ्च, समवाय इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु के विशेषण रूप से ही सिद्ध होता है। पुनश्च विशेष नामक पदार्थ, जिसे वैशेषिक कहते हैं, वह जीव एवं ईश्वर के अणुत्व एवं विभुत्व आदि का विभाजक धर्म मात्र है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय को अलग पदार्थ स्वीकार न करके पदार्थों का द्रव्य और अद्रव्य ये दो ही विभाग स्वीकार्य हैं।[1]

वैशेषिकों को अभिमत अभाव नामक सातवें पदार्थ का भी विशिष्टद्वैत में खण्डन किया गया है। वैशेषिक जिसे अभाव नामक पदार्थ मानते हैं, वह भी भावान्तर रूप होता है।[2] जैसे घट का प्रागभाव घट की पिण्डत्वावस्था है। उसका प्रध्वंस कपालत्वावस्था एवं चूर्णत्वावस्था है। घट का अत्यन्ताभाव तथा उसका अन्योन्याभाव तो स्पष्ट रूप से भावान्तर रूप है। अभाव को भावान्तररूप मानने तथा उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव मानने के कारण अभाव को एक अलग पदार्थ मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। इस तरह पदार्थों के द्रव्य एवं अद्रव्य ये दो भेद युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं।

<u>द्रव्य –</u>

द्रव्य का लक्षण उपादानत्व है।[3] जो उपादान होता है वह द्रव्य कहलाता है।

---

1. अतः कर्मसामान्यविशेषसमवायानां पृथक्पदार्थत्वेनानङ्गीकाराच्च द्रव्यमद्रव्यमिति द्विधा विभाग उपपद्यते। यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 69.
2. एतेनाभावस्सप्तमपदार्थ इत्यपि निरस्तम्। अभावस्य भावान्तररूपत्वात्। वही, पृ.69.
3. उपादानं द्रव्यम्। वही, पृ.69.

उपादान वह है जो पदार्थ अवस्था का आश्रय होता है। अवस्था उस धर्म को कहते हैं, जो अपने धर्मी का अपृथक्सिद्ध तथा आगन्तुक धर्म हो। जैसे–शरीर की बालत्वावस्था तथा युवत्वावस्था। द्रव्य वैशेषिक दर्शन का प्रथम पदार्थ है, जिसकी परिभाषा निम्न शब्दों में दी गयी है– द्रव्य, गुण एवं कर्म का आधार होने के अतिरिक्त अपने कार्यों का उपादान कारण है।[1] द्रव्य के दो भेद होते हैं – 1. जडद्रव्य एवं 2. अजडद्रव्य। जडद्रव्य के भी दो भेद स्वीकार्य किये गये हैं– 1. प्रकृति, 2. काल। अजडद्रव्य के भी दो भेद होते हैं– 1. प्रत्यक् एवं 2. पराक्। जीव एवं ईश्वर प्रत्यक् हैं तथा नित्यविभूति एवं धर्मभूतज्ञान पराक् हैं।

अद्रव्य –

जिस पदार्थ में अवस्था न होती हो वह पदार्थ अद्रव्य है।[2] वह द्रव्य से भिन्न है एवं उसमें द्रव्यत्व नहीं है, इसलिए वह अद्रव्य कहा जाता है। द्रव्य एवं (तद्भिन्न) अद्रव्य के रूप में विभाजन में तीसरा प्रकार असंभव है।

द्रव्याद्रव्य विभाग में जो द्रव्य कहे गये हैं, वे स्थिर है। बौद्ध लोग क्षणभंग को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अर्थात् एक क्षण रहकर द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाते हैं, जबकि उनके इस क्षणभंगवाद में कोई प्रमाण नहीं है। अतः द्रव्य स्थिर हैं।[3] प्रश्न है कि बौद्ध प्रत्यक्ष से क्षणभंगवाद को सिद्ध करते हैं अथवा

---

1. क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। वैशेषिक सूत्र, पृ.1–15.
2. देखिए–अध्याय–5.
3. द्रव्याणि स्थिराण्येव, न्यायसिद्धाञ्जन, पृ. 16.

अनुमान से? प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है,क्योंकि प्रत्यक्ष से क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता, बल्कि स्थिरत्व ही सिद्ध होता है। 'यह वही घट है' इस प्रकार प्र त्यभिज्ञा प्रत्यक्ष लोक में होती रहती है, उससे घटादि पदार्थों में स्थिरत्व अर्थात् पूर्वोत्तरकालवर्तित्व सिद्ध होता है, प्रत्यक्ष से पदार्थों का क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता।

अनुमान के द्वारा भी क्षणभंगवाद उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणभंगपक्ष में जब स्मरणसामान्य ही अनुपपन्न होता है, तब व्याप्तिस्मरण इत्यादि कैसे हो सकते हैं? व्याप्तिस्मरण इत्यादि असंगत होने पर अनुमान–सामान्य निर्मूल हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्षणभंगवाद में क्षणिकत्वसाधक अनुमान कैसे सिर उठा सकता है। क्षणभंगवाद एवं क्षणिकत्वसाधक अनुमान में सामञ्जस्य नहीं हो सकता है।

पुनश्च बौद्ध कहते हैं कि भले प्रमाणों से क्षणिकत्व सिद्ध न हो, तथापि मनुष्यों को संसार में होने वाली आस्था अर्थात् आसक्ति को नष्ट करने के लिए क्षणिकत्व का उपदेश देना आवश्यक है। बौद्धों का यह कथन भी विशिष्टाद्वैती स्वीकार नहीं करते। विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि बौद्ध स्वयं को महान् धार्मिक एवं सत्यभाषी मानते हैं। जबकि वे यदि वे अप्रमाणिक क्षणिकत्व का उपदेश देंगे तो मिथ्याभाषणरूपी महान् अधर्म उन्हें प्राप्त होगा तथा सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न महानुभावों की क्षणिकत्ववाद से ही आस्था हट जायेगी, संसार से आस्था नहीं हटेगी। इस प्रकार बौद्धों का क्षणभंगवाद खण्डित हो जाता है। यदि बौद्ध कहें कि सत्य अर्थ का उपदेश करने से सांसारिक आस्था नहीं हटती, क्षणिकत्व का उपदेश देने से ही आस्था हट सकती है? तो इसके उत्तर में विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि क्षणिकत्वोपदेश से भी सबकी आस्था नहीं हटेगी। क्षणभर के लिए कईलोग सांसारिक पदार्थ प्राप्त समझकर संसार में आस्था अवश्य रखेंगे। आस्था को दूर करने के लिए

'सर्वं शून्यम्' ऐसा शून्य उपदेश ही देना चाहिए। जबकि यह वैभाषिक बौद्धों को अभिमत नहीं है। अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि आस्थानिवृत्यर्थ अप्रामाणिक क्षणिकत्व का उपदेश भी उचित नहीं है। इस प्रकार उक्त विवेचनों से द्रव्य स्थिर है।[1]

****
**
*

---

1. न्यायसिद्धाञ्जन, पृ. 32.

****

तृतीय अध्याय

जडद्रव्य – निरूपण

****

1. प्रकृति का स्वरूप

 (क) महत्तत्त्व

  1. सात्त्विक अहङ्.कार

   (अ) इन्द्रिय–निरूपण

    1. ज्ञानेन्द्रियाँ

    2. कर्मेन्द्रियाँ

  2. राजस अहङ्.कार

  3. तामस अहङ्.कार

   (अ) पञ्चतन्मात्राएँ एवम् पञ्चमहाभूत

    1. आकाश

    2. वायु

    3. तेज

    4. जल

    5. पृथिवी

 (ख) पञ्चीकरण प्रक्रिया का निरूपण

 (ग) सृष्टि का कार्यकारणभाव-निरूपण

2. काल का स्वरूप

 (क) काल का नित्यत्व

 (ख) काल के भेद

  1. अखण्ड काल

  2. सखण्ड काल

 (ग) काल का प्रत्यक्षत्व

<u>जडद्रव्य –</u>

जो द्रव्य दूसरे से ही प्रकाशित होता है, वह जड है ।[1] उक्त लक्षण के अनुसार प्रकृति (त्रिगुण) एवम् काल, जड द्रव्य सिद्ध होते हैं । ये दोनों धर्मभूत ज्ञान से ही प्रकाशित होते हैं, स्वयं नहीं । श्रीनिवासाचार्य ने जड को परिभाषित करते हुए कहा – जो अमिश्र सत्त्व से रहित हो, वह जड है ।[2] जड द्रव्य दो प्रकार का है – प्रकृति और काल ।

<u>प्रकृति का स्वरूप –</u>

जड द्रव्यों में प्रधान प्रकृति ही है । जिसमें सत्त्व, रजस् एवम् तमस् – ये तीनों गुण साम्यावस्था में हों, वही मूल प्रकृति है ।[3] प्रलयावस्था में प्रकृति में तीनों गुणों का साम्य रहता है ।इसी अवस्था में रहने वाली प्रकृति को 'मूल प्रकृति' कहते हैं । प्रलय के समाप्त होने पर श्रीभगवान् के 'एकोऽहम् बहुस्याम' इत्यादि रूप से होने वाले सत्य संकल्प के द्वारा प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे उसके तीनों गुणों मे वैषम्य उत्पन्न हो जाता है । तीनों गुणों की प्रकृति में विषमता का होना ही प्रकृति की कार्योन्मुखावस्था है ।

साड्.ख्य दर्शन में भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहा गया है । परन्तु विशिष्टाद्वैती साड्.ख्य दार्शिनिकों की तरह 'पुरुष' और 'प्रकृति' में आत्यन्तिक भेद पर आधृत द्वैत को स्वीकार नहीं करते । उनके मत में प्रकृति ईश्वर पर आधारित उनकी विशेष शक्ति है, जिसके द्वारा और जिससे वह संसार का उद्भव करता है ।[4] माया ईश्वर की

---

1. परत एव भासमानं जडम् – न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ-33.
2. अमिश्रसत्त्वरहितं जडमिति – यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ-72.
3. समत्रैगुण्या मूलप्रकृतिः । न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ-63
4. भारतीय दर्शन का इतिहास – 3 डा0 एस0एन0 दास गुप्ता पृष्ठ-578

सृजन शक्ति है ।[1] सृजन या सृष्टि सूक्ष्म प्रकृति स्थूल रूप में प्रकट करना है । इस सूक्ष्म प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं । साड्.ख्य दार्शनिक अव्यक्त को प्रकृति की सूक्ष्मावस्था मानते हैं और प्रकृति की स्थूलावस्था को व्यक्तावस्था कहते हैं । परन्तु विशिष्टाद्वैती विचारक 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग मिश्रसत्त्व के लिए करते हैं और इनकी चार अवस्थाओं का वर्णन करते हैं – प्रकृति की पहली अवस्था 'अविभक्त तमस्' है । इस अवस्था में प्रकृति में विकार के कोई चिह्न नहीं होते । यह भूमि पर पड़े बीज की अवस्था है,जो उगने की ओर उन्मुख नहीं है । दूसरी अवस्था 'विभक्त तमस्' कहलाती है । इस अवस्था में प्रकृति में विकार उत्पन्न होने की क्षमता स्फुट हो जाती है।इसे हम एक ऐसे बीज की अवस्था कह सकते हैं,जो उचित स्थान पर बो दिया गया है और जिसे उगने के लिए आवश्यक पदार्थों (नमी, धूप इत्यादि) का संयोग मिल चुका है । 'अक्षर' प्रकृति की तीसरी अवस्था है । इसमें प्रकृति विकारोन्मुख होकर उस बीज के समान बन जाती है,जिसने उगने के लिए आवश्यक मात्रा में नमी का शोषण कर लिया है। प्रकृति की चौथी अवस्था 'कार्योन्मुखावस्था' या विकासोन्मुखावस्था है जिसे अव्यक्त शब्द से अभिहित किया जाता है । प्रकृति के जगत् कारणत्व का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है – 'त्रिगुणम् तज्जगद्योनिः अनादिप्रभवाप्ययम्' अर्थात् तीनों गुणों की आश्रयरूपा प्रकृति जगत् का कारण है । वह आदि एवम् अन्त रहित है । दूसरी श्रुति उसे नित्य बताते हुए कहती है – 'नित्या सततविक्रिया' अर्थात् प्रकृति नित्य तथा सदा विकृत होते रहने वाली है । अतः प्रकृति को नित्य तथा अक्षर कहा गया है । प्रकृति को अविद्या इसलिए कहा जाता है कि वह अध्यात्म-ज्ञान विरोधिनी है ।[2] कार्योन्मुखावस्थावस्थित प्रकृति से प्रथमतः महत्तत्त्व उत्पन्न होता है ।

---

1. परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतेः । — श्रीभाष्य 1/4/9

2. अध्यात्मज्ञानविरोधत्वादविद्या । — तत्त्वत्रय, पृष्ठ-76.

महत्तत्व–निरूपण –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में यह माना जाता है कि त्रिगुण द्रव्य में अव्यक्तावस्था के बाद तथा अहड्.कारावस्था के पूर्व महत्तत्त्वावस्था होती है । इस सिद्धान्त के अनुसार महत्तत्व के दो लक्षण बताये गये हैं – 1. अव्यक्तावस्था के बाद अव्यवहित उत्तर में जो अवस्था है, उस अवस्था से युक्त त्रिगुण द्रव्य 'महान्' है । 2. अहड्.कारावस्था के पहले जो अव्यवहित पूर्व अवस्था है, उस अवस्था से विशिष्ट त्रिगुण द्रव्य 'महान्' है ।[1] वेड्.कटनाथ ने तीसरा लक्षण भी दिया है – महत् शब्द का जो वाच्य हो, वही महत्तत्त्व है ।[2] वस्तुतः तीन गुण – सत्त्व, रजस्, तमस् प्रकृति में स्थित हैं और इन्हीं की क्रमिक प्रधानता के अनुसार तीन प्रकार के महत्तत्व उत्पन्न होते हैं । इन तीन महत् से ही तीन प्रकार के अहड्.कार उत्पन्न होते हैं – सात्त्विक अहड्.कार, राजस अहड्.कार एवं तामस अहड्.कार ।

सात्त्विक अहड्.कार –

सात्त्विक अहड्.कार को वैकारिक भी कहते हैं । राजस अहड्.कार से सहकृत सात्त्विक अहड्.कार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । जिनका विवेचन निम्नलिखित है –

इन्द्रिय–निरूपण –

आचार्य वेदान्त देशिक इन्द्रिय को लक्षित करते हुए कहते हैं कि जो द्रव्य प्राणादि से भिन्न हो तथा हृदय, कर्ण और चक्षु आदि शरीर–प्रदेशों में व्यापार करता हुआ स्मरण, श्रवण और दर्शन इत्यादि उन–उन कार्य विशेषों मे समर्थ हो, वह

---

1. अवक्ताहड्.कारावस्थाद्रव्यवहितोत्तरपूर्वावस्थाविशिष्टं त्रिगुणं महान् न्यायसिद्धाञ्जन,पृ0-65.
2. तच्छब्दवाच्यत्वमेव वा तल्लक्षणम् । वही, पृष्ठ-65.

इन्द्रिय है ।[1] यहाँ प्राणादि में अतिव्याप्ति के वारण के लिए 'प्राणादि भिन्नत्व' विशेषण दिया गया है । 'श्रीवरदविष्णुमिश्र स्वामी जी' ने इन्द्रियों का लक्षण इस प्रकार दिया-'जो द्रव्य प्राण से धृत होता हुआ पुरुष का उपकारक हो और शरीर से भिन्न हो, वह इन्द्रिय है'। इस लक्षण में शरीर में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'शरीरभिन्नत्व' विशेषण दिया गया है । 'श्रीनिवासाचार्य' ने भी इन्द्रिय का लक्षण करते हुए कहा कि जिसका सात्त्विक अहङ्कार, उपादान कारण हो उस द्रव्य को इन्द्रिय कहते हैं ।[2] इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं – ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ ।

ज्ञानेन्द्रियाँ –

ज्ञानेन्द्रिय उसे कहते हैं,जो ज्ञान का प्रसरण करने में समर्थ हो ।[3] ज्ञानेन्द्रियाँ छः प्रकार की होती हैं – मन, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवम् त्वक् । मन को भी ज्ञानेन्द्रिय इसलिए कहते हैं कि गीता के 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इस वाक्य में मन को भी इन्द्रिय के अन्तर्गत गिना गया है । मन को सिद्ध करते हुए गौतम ने कहा है – 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' अर्थात् सभी इन्द्रियों के यथायथ अपने विषयों के सन्निकृष्ट होने पर भी समकाल में सभी विषयों का ज्ञान न होकर क्रमशः होता है । जिस इन्द्रिय की सहायता के बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाश नहीं कर पाती हैं, वह इन्द्रिय मन है । मन के द्वारा जो इन्द्रिय सहकृत होती है, वही इन्द्रिय अपने विषय का प्रकाश कर पाती है । अतएव मन का ज्ञान साधकतमत्व सिद्ध होता है । किञ्च, जिस प्रकार बाह्य – रूप, रस,

---

1. प्राणाद्यन्यत्वे सति हृत्कर्णचक्षुरादिशरीरप्रदेशविशेषावच्छिन्नव्यापारतया तत्तत्कार्यविशेष–शक्तमिन्द्रियम् । न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ-69.
2. सात्विकाहङ्कारोपादानकं द्रव्यमिन्द्रियमितीन्द्रियलक्षणम् । यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 73.
3. ज्ञानप्रसरणशक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम् । वही, पृष्ठ-73.

गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का ज्ञान प्राप्त करने में चक्षुः, रसना, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र नाम की इन्द्रियाँ साधकतम हैं, उसी प्रकार सुख दुःख आदि अभ्यन्तर विषयों के ग्रहण करने में साधकतम किसी इन्द्रिय को अवश्य होना चाहिए । सुख,दुःखादि के ग्रहण करने में जो इन्द्रिय साधकतम होती है, उसे मन कहा जाता है । इस तरह मन का इन्द्रियत्व सिद्ध होता है । मन के इस इन्द्रियत्व प्रतिपादन से, मन को इन्द्रिय नहीं मानने वाले, वेदान्त-परिभाषाकार इत्यादि के मत का खण्डन हो जाता है ।

स्मरणआदि क्रियाओं के साधकतम इन्द्रिय को '**मन**' कहते हैं – मन हृदय प्रदेश में रहता है उसे ही बुद्धि अहङ्कार तथा चित्तआदि शब्दों से अभिहित किया जाता है । मन ही जीवों के बन्ध एवं मोक्ष का कारण है । शब्दआदि पाँच विषयों में से शब्दमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को '**श्रोत्रेन्द्रिय**' कहते हैं । श्रोत्रेन्द्रिय मनुष्य आदि के कर्णकुहर में स्थित रहती है, जबकि सर्पादि के नेत्र प्रदेश में रहती है । इसी तरह रूपमात्र का ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को '**चक्षुरिन्द्रिय**' कहते हैं। यह सभी के नेत्र प्रदेश में रहती है । गन्धमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को '**घ्राणेन्द्रिय**' कहते हैं । यह इन्द्रिय नासिका के अग्र भाग में विद्यमान रहती है । हाथी आदि के सूड के अग्रभाग में रहती है । रस-मात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को '**रसनेन्द्रिय**' कहते हैं । यह इन्द्रिय जिह्वा के अग्र भाग में रहती है । स्पर्शमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को '**त्वगिन्द्रिय**' कहते हैं । यह सम्पूर्ण शरीर में रहती है ।दाँत, नख तथा केश आदि में प्राण अत्यल्प मात्रा में विद्यमान रहता है, अतएव उनमें स्पर्श की प्रतीति बहुत कम होती है । श्रोत्र आदि इन्द्रियों को भौतिक इसलिए कहा जाता है कि इन्द्रियाँ भूतों से आप्यायित होती हैं । अतएव उनका भौतिकत्व व्यपदेश औपचारिक है । इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने में, उनमें कहीं पर संयोग नामक सम्बन्ध होता है तथा कहीं पर संयुक्ताश्रय सम्बन्ध होता है ।

<u>कर्मेन्द्रियाँ –</u>

श्रीनिवासाचार्य ने कर्मेन्द्रिय का लक्षण करते हुए कहा है कि उच्चारणादि क्रियाओं में से किसी क्रिया को करने में समर्थ जो इन्द्रिय होती है, उसे 'कर्मेन्द्रिय' कहते हैं ।[1] वेदान्त-देशिक ने भी कर्मेन्द्रिय को लक्षित करते हुए कहा कि उच्चारणादि क्रियाओं (अर्थात् वर्णोच्चारण, शिल्पनिर्माण, संचार, मलमूत्र विसर्जन एवम् आनन्द सम्पादन) मे से किसी एक क्रिया का जो साधन होता है, वह कर्मेन्द्रिय है ।[2] कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं – वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। वर्णो के उच्चारण की क्रिया में जो साधकतम होती है, उस इन्द्रिय को **'वाक्'** कहते हैं । वह वागिन्द्रिय हृदय, कण्ठ, जिह्वामूल, तालु, दाँत, ओष्ठ, नासिका और मूर्धा इन आठ स्थानों में रहती है । मूक (गूंगे आदमी) तथा मृग आदि में अदृष्ट आदि के अभाव के कारण वागिन्द्रिय का अभाव होता है । शिल्पक्रिया में साधकतम इन्द्रिय को **'पाणि'** कहते हैं । पाणीन्द्रिय मनुष्य आदि के अँगुलियों के अग्रभाग में रहती है । हाथी आदि की नासिका के अग्रभाग में पाणि इन्द्रिय रहती है । चलने की क्रिया में जो इन्द्रिय साधकतम होती है उसे **'पादेन्द्रिय'** कहते हैं । पादेन्द्रिय मनुष्यों आदि के चरणों में होती है । यह इन्द्रिय सर्पो के उरः प्रदेश में तथा पक्षी आदि के पंख में रहती है । मलादि के त्याग में साधकतम इन्द्रिय को **'पायु'** कहते हैं । पायु इन्द्रिय तत्–तत् जीवों के तत्–तत् अवयवों में रहती है । आनन्दविशेष के करने में साधकतम इन्द्रिय को **'उपस्थ'** कहते हैं । उपस्थ इन्द्रिय मनुष्य के शिश्न आदि में रहती है ।

ये सभी (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ) सूक्ष्म परिमाण वाली होती हैं । ये परकायप्रवेश की क्रिया में तथा मृत्यु के पश्चात् लोकान्तरों में जाने (तथा लोकान्तरों से आने आदि की क्रिया) में जीव के साथ जाती (तथा आती) हैं । इन्द्रियाँ अप्राकृत वैकुण्ठ आदि लोकों मे नहीं जा सकती हैं । अतएव इनका सम्बन्ध मुक्तावस्था में जीव से नहीं रह

---

1. उच्चारणादिष्वन्यतमक्रियाशक्तत्वं कर्मेन्द्रियसामान्यलक्षणम् । यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0-74.
2. उच्चराणादिष्वन्यतमक्रियाहेतुत्वं तल्लक्षणम् । न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0-83.

जाता । ये प्राकृत मण्डल में प्रलय पर्यन्त रहती हैं । अथवा मुक्त जीवों की इन्द्रियाँ उन जीवों को मिल जाती हैं, जो इन्द्रियहीन होते हैं । 'शरीर के विनिष्ट हो जाने पर कर्मेन्द्रियाँ विनष्ट हो जाती हैं', यह कहने वालों का मत भाष्य आदि के विरूद्ध होने के कारण त्याज्य है ।

राजस अहङ्.कार–

दूसरे प्रकार का (राजसिक) अहङ्.कार एकादश इन्द्रियाँ और भूतादि उत्पन्न करने में सहायक रूप से कार्य करता है । कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि कर्मेन्द्रियाँ राजसिक अहङ्.कार से उत्पन्न होती हैं । यद्यपि यह अस्वीकार्य है, क्योंकि यह शास्त्र-विरूद्ध है।[1]

तामस अहङ्.कार –

राजस अहङ्.कार से सहकृत भूतादि नामक तामस अहङ्.कार से शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पञ्चतन्मात्राएँ तथा आकाशादि (आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथिवी) पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं । भूतों की उत्पत्ति होने के अव्यवहित पूर्व क्षण में इन भूतों के रूप में परिणत होने वाले द्रव्यों में एक सूक्ष्मावस्था होती है, उस अवस्था से युक्त वह द्रव्य ही 'तन्मात्रा' कहलाता है । तन्मात्रा, तामस अहङ्.कार और भूत की स्थूल तात्त्विक अवस्था के विकास की सूक्ष्म अवस्था है ।[2] शब्दतन्मात्रा (शब्द शक्ति) भूतादि से उत्पन्न होता है और उससे स्थूल शब्द तत्त्व उत्पन्न होता है । पुनः रूपतन्मात्रा, (प्रकाश–ताप शक्ति) भूतादि या तामस अहङ्.कार से उत्पन्न होता है और उससे स्थूल ताप प्रकाशतत्व उत्पन्न होते हैं इत्यादि। पञ्चतन्मात्राओं एवम् पञ्चमहाभूतों का निरूपण निम्न है ।

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास – 3, डा0 एस0एन0 दास गुप्ता, पृ0-208.
2. भूतानामव्यवहितसूक्ष्मावस्थाविशिष्टं द्रव्यं तन्मात्रम् । न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0-93.

पञ्चतन्मात्राएँ एवम् पञ्चमहाभूत

आकाश –

तामस अहङ्कार एवं आकाश के बीच में होने वाली अवस्था से विशिष्ट द्रव्य 'शब्दतन्मात्रा'कहलाता है।[1] जिस प्रकार क्षीर का दधि के रूप में होने वाले परिणाम के बीच में दुग्ध द्रव्य एक कलिलावस्था से विशिष्ट होता है, उसी प्रकार तामस अहङ्कार और आकाश के बीच की अवस्था शब्दतन्मात्रा है । तथा जिसका स्पर्श न हो फिर भी जो शब्द का आश्रय हो, उसे आकाश कहते हैं । अथवा जो भूत श्रोत्र नामक इन्द्रिय का आप्यायन करता है, उसे 'आकाश' कहते हैं ।[2]

वायु –

आकाश पुनः तन्मात्रा उत्पन्न करता है तथा इससे वायु उत्पन्न होती है । आकाश और वायु के बीच में होने वाली सूक्ष्मावस्था से विशिष्ट द्रव्य को 'स्पर्शतन्मात्रा' कहते हैं[3]। पुनश्च शान्तत्व, मूढत्व एवम् घोरत्व विशिष्ट गुणों से युक्त रहकर जो रूप शून्य हो, उसे 'वायु' कहते हैं । हम लोगों के त्वगिन्द्रिय से ही जिसकी उपलब्धि होती है, उसे वायु[4]कहते हैं । अथवा जिसका स्पर्श न तो उष्ण हो, न शीतल तथा जो रूप रहित हो, उसे वायु कहते हैं । वायु में दो गुण होते हैं – शब्द एवं स्पर्श । यह पाँच प्रकार की है – प्राण, अपान, व्यान, समान एवं उदान ।

तेज –

स्पर्शतन्मात्रा से रूप तन्मात्रा उत्पन्न होते हैं । वायु एवं तेज के बीच में होने वाली

---

1. द्रष्टव्य, न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0-94 .
2. वही ,
3. द्रष्टव्य, यतीनद्रमतदीपिका, पृष्ठ-80 . 4. वही,

जो सूक्ष्मावस्था, उस अवस्था से विशिष्ट जो द्रव्य होता है, उसे **'रूपतन्मात्रा'** कहते हैं ।[1] रूपतन्मात्रा से ही तेज की उत्पत्ति होती है । उष्ण स्पर्श से युक्त होना अथवा भास्वर रूपवान् होना **'तेज'** का लक्षण है ।[2] तेज बाह्य अग्नि और सूर्य के रूप मे बाहर रह कर पकाने का कार्य करता है । तेज चार प्रकार का होता है – भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज । भौम तेज दीपादि हैं । सूर्यादि दिव्य तेज हैं । उदर्य तेज जठराग्नि है । आकरज तेज सुवर्ण आदि है । तेज को पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है – 1. प्रभा तेजोद्रव्य वह है जो आवरण होने पर संकुचित हो जाता है तथा आवरण के नहीं रहने पर वह विकास को प्राप्त करता है । 2. जो तेजोद्रव्य प्रभा से विशिष्ट होता है उसे प्रभावद्द्रव्य कहते हैं । तेज में तीन गुण पाये जाते हैं – शब्द, स्पर्श तथा रूप ।

<u>जल –</u>

तेजस् से रसतन्मात्रा होते हैं तथा रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है । तेज के जल के रूप में परिणत होने से पहले तेज और जल के बीच में जो सूक्ष्मावस्था होती है, उस अवस्था से विशिष्ट द्रव्य **'रसतन्मात्रा'**[3]है । शीतस्पर्श वाला होना तथा गन्ध रहित, शान्त, घोर एवं मूढ- इन विशेषताओं से विशिष्ट रस से युक्त होना **'जल'** का लक्षण है ।[4] जल स्वाभवतः शुक्ल, मधुर तथा शीतस्पर्श वाला होता है । आश्रय भेद के कारण अथवा संसर्ग भेद के कारण उसमें रूप की भिन्नता, रस की भिन्नता तथा स्पर्श की भिन्नता का आरोप होता है । जल के समुद्र, नदी इत्यादि अनेक प्रकार हैं । जल में चार गुण पाये जाते हैं – शब्द, स्पर्श, रूप एवम् रस ।

---

1. द्रष्टव्य, यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ-83.
2. द्रष्टव्य, न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ-119 ।
3. वही , पृष्ठ-129 .
4. वही ,

पृथिवी –

जल से पुनः गन्धतन्मात्रा उत्पन्न होते हैं तथा गन्धतन्मात्रा से पृथिवी । जल के पृथिवी रूप से परिणत होने के पूर्व दोनो के बीच में जो एक सूक्ष्मावस्था होती है, उस अवस्था से विशिष्ट जो द्रव्य होता है, उसे **'गन्धतन्मात्रा'** कहते हैं ।[1] शान्तत्व, घोरत्व तथा मूढत्व इत्यादि से विशिष्ट गन्ध का आश्रय होना तथा रसवती होती हुई औष्ण्य तथा शीतत्वरहित स्पर्शवाली होना **'पृथिवी'**[2] का लक्षण है । पृथिवी सुगन्धयुक्त, मधुररसोपेत, कृष्णारूपवाली, औष्ण्य एवं शैत्यरहित स्पर्श वाली है । पाक की भिन्नता के कारण विभिन्न प्रकार के वर्णो, रसों एवं गन्धों वाली होती है । पृथिवी की, मिट्‌टी, पाषाण, अन्न तथा औषधियाँ आदि अनेक प्रकार के भेद हैं । इसमें पाँच गुण होते हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ।

विशिष्टाद्वैती तम (अन्धकार) का पृथिवी में अन्तर्भाव मानते हैं, क्योंकि अन्धकार पृथिवी का गुण है । दूसरे शब्दों में अन्धकार पृथिवी का अवस्थान्तर रूप है । अनुभव के अनुसार यह मानना चाहिए कि आलोक रहित चक्षु भी अन्धकार द्रव्य को उसी प्रकार प्रत्यक्ष करा देता है जिस प्रकार आलोकाभाव को । वस्तुतः तम (अन्धकार) प्रकाश का अभाव मात्र है उसे द्रव्य मानना ठीक नहीं है ।

पिल्लै लोकाचार्य कहते हैं कि तन्मान्त्रा और भूत की उत्पत्ति के विषय में दूसरा मत भी है, जिसका शास्त्र में समर्थन भी प्राप्त होता है । इसलिए वह उपेक्षा का पात्र

---

1. द्रष्टव्य, यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0-86.
2. वही,

ही है । वह एवम्विध है – शब्दतन्मात्रा भूतादि से उत्पन्न होते हैं और आकाश शब्दतन्मात्रा से, आकाश पुनः स्पर्शतन्मात्रा को उत्पन्न करता है तथा इससे वायु उत्पन्न होती है । तेजस् से रसतन्मात्रा उत्पन्न होते हैं और रसतन्मात्रा से जल, जल से पुनः गन्धतन्मात्रा उत्पन्न होते हैं और इससे पृथिवी ।[1]

यह मत वरवर द्वारा इस मान्यतानुसार समझाया गया है-जैसे एक बीज तुषसहित होने पर ही अङ्कुर उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार तन्मात्रा भी भूतादि के कोश में रह-कर ही विकास उत्पन्न कर सकते हैं ।[2]

उपर्युक्त बोधार्थ के अनुसार विकासक्रम निम्न प्रकार है – भूतादि से शब्दतन्मात्र उत्पन्न होता है ।फिर ऐसे शब्द तन्मात्र से स्पर्शतन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो शब्दतन्मात्र को आवृत करते हैं । शब्दतन्मात्र द्वारा आवृत स्पर्शतन्मात्र आकाश की आवश्यक सहायता से वायु उत्पन्न करतें हैं । फिर इस स्पर्शतन्मात्र से रूपतन्मात्र उत्पन्न होते हैं । रूपतन्मात्र क्रमशः स्पर्शतन्मात्र को आवृत कर रूपतन्मात्र तथा वायु की सहायता से तेजस् उत्पन्न करता है । पुनः रूपतन्मात्र से रसतन्मात्र उत्पन्न होते हैं । जो रसतन्मात्र को आवृत करते हैं । रूपतन्मात्र से आवृत रसतन्मात्र द्वारा तेज की सहायता से अप (जल) उत्पन्न होता है जो पुनः रसतन्मात्र से आवृत हो,जल की सहायता से पृथिवी उत्पन्न करता है ।[3]

---

1. यह मत विष्णुपुराण में माना गया है – 1 – 3 – 66 इत्यादि ।
2. यथा त्वक्शून्यबीजस्याङ्कुरशक्तिर्नास्ति, तथा वाणशून्यस्योत्तरकार्यशक्तिर्नास्तीति–भानात् कारणगुणं विनोत्तरोत्तरगुणविशेषेषु .... स्व विशेष्योऽक्तगुणाति–शयानुपपत्तेः । तत्त्वत्रय पर वरवर का भाष्य, पृ0-38.
3. वही, पृष्ठ-39. ।

वरवर कहते हैं कि 'तत्त्वनिरूपण' में उत्पत्ति का दूसरा विकासक्रम दिया गया है, जो निम्न प्रकार है – शब्दतन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होता है तथा उसकी स्थूलावस्था से आकाश उत्पन्न होता है । भूतादि, शब्दतन्मात्र और आकाश को आवृत्त करता है । भूतादि से आवृत्त स्थूल आकाश की सहायता द्वारा परिणत शब्दतन्मात्र से स्पर्शतन्मात्र उत्पन्न होता है और ऐसे स्पर्शतन्मात्र से वायु उत्पन्न होती है । शब्दतन्मात्र पुनः स्पर्शतन्मात्र और वायु दोनों को आवृत करता है तथा वायु की सहायता द्वारा परिणत स्पर्शतन्मात्र से रूपतन्मात्र उत्पन्न होता है । रूपतन्मात्र से इसी प्रकार तेजस् उत्पन्न होता है इत्यादि । इस मत में स्पर्श और अन्य तन्मात्रों को उत्पत्ति के लिए पूर्वगामी भूतों की सहायता आवश्यक पायी गयी है ।[1]

वेङ्कटनाथ इस मत को स्वीकरते हैं कि आकाश का स्थूल भूत पिछले भूतों को उत्पन्न करने में सहायक का कार्य करता है, इसलिए वे 'तन्मात्रों के सहयोग से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है' ऐसे साङ्ख्य मत की आलोचना करते हैं ।[2] साङ्ख्य दार्शनिक पुनः सोचते है कि प्रकृति से भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति अन्तः स्थित हेतु के कारण है, पृथक् कारकों के व्यापार से नहीं । वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक रामानुज के निष्ठावान् अनुयायी होने से इसका खण्डन करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रकृति का परिणाम–क्रम स्वयं ईश्वर के प्रेरक व्यापार द्वारा ही हो सकता है ।

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास – 3, डा0 एस0एन0 दास गुप्ता, पृष्ठ-210.
2. साङ्ख्यस्तु पञ्चापि तन्मात्राणि साक्षात्तमसोऽहङ्कारोत्पन्नानि तत्र शब्दतन्मात्रं आकाशारम्भकमितराणितु तन्मात्राणि पूर्व–पूर्वतन्मात्रसहकृतान्युत्तरोत्तरभूतारम्भका–नित्याहुः तदसत् । आकाशात् वायुरित्याद्यन्यथा सिद्धापादानक्रमविशेषाभिधानदर्शनात्. .
न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ- 25-26.

<u>पञ्चीकरण प्रक्रिया का निरूपण –</u>

पञ्चीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सभी भूतों, शब्दादि सभी गुणों, की उपलब्धि होती है । विशिष्टाद्वैत में पञ्चीकरण की प्रक्रिया निम्नलिखित है – सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा भूतों की रचना करके प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करके, दो भागों मे से एक भाग को उस भूत के लिए छोड़कर तथा दूसरे भाग को चार भागों मे बाँट कर, उन चार भागों को दूसरे चार भूतों में मिला देते हैं । निर्मित किये जाने वाले इन चारों भूतों में, प्रत्येक भूत का आधा अपना भाग होता है और उसके आधे भाग में स्वेतर चार भूतों का समाहार होता है । इस प्रकार प्रत्येक भूत में अपने भाग की अधिकता तथा भूतान्तर के भागों की न्यूनता होने के कारण उन्हें पृथिवी आदि तत्–तत् नामों से व्यपदिष्ट किया जाता है । वेद में त्रिवृत्करण – प्रक्रिया का उपदेश पञ्चीकरण-प्रक्रिया का उपलक्षण है । भूतों के साथ महान् और अड्.कार को मिला कर सप्तीकरण होता है, यह आचार्यों ने कहा है । प्रकृति के इन चौबीस तत्वों में पञ्चभूत, प्रकृति, महान् और अहड्.कार शरीर के उपादान कारण हैं । एकादश इन्द्रियाँ, प्रत्येक जीव की अलग–अलग होने से, असड्.ख्य हैं। ये आभूषणों में जड़े गये रत्नों के समान शरीर में व्याप्त होकर रहती हैं ।

पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार --

पृथिवी में – पृथिव्यंश 1/2 + जलांश 1/8 + तेजांश 1/8 + वाय्वंश 1/8 और आकाशांश 1/8 है ।

जल में – जलांश 1/2 + तेजांश 1/8+ वाय्वंश 1/8 + आकाशांश 1/8 + पृथिव्यंश 1/8 है ।

तेज में – तेजांश 1/2 + वाय्वंश 1/8 + आकाशांश 1/8 + पृथिव्यंश 1/8 + जलांश 1/8 है ।

वायु में – वाय्वंश 1/2 + आकाशांश 1/8 + पृथिव्यंश 1/8 + जलांश 1/8 + तेजांश 1/8 है ।

आकाश में – आकाशांश 1/2 + पृथिव्यंश 1/8 + जलांश 1/8 + तेजांश 1/8 + वाय्वंश 1/8 है ।

इस पञ्चीकरण का मूल हमें छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय में वर्णित त्रिवृत्करण–

प्रक्रिया के रूप में उपलब्ध होता है । छान्दोग्योपनिषद् में आख्यायिका आयी है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने पृथिवी, जल एवं तेज की सृष्टि करके, उसको त्रिवृत् करने का सत्यसङ्ल्प किया – "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि"। यह त्रिवृत्करण का सत्य संकल्प ही पञ्चीकरण का उपलक्षण है ।

<u>सृष्टि का कार्यकारणभाव निरूपण –</u>

उपर्युक्त प्रकार से पञ्चीकृत भूतों से ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है । इस अर्थ का समर्थन विष्णुपुराण के इन वाक्यों से ही होता है –

"नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन् प्रजास्स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ।।
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।
एकसङ्घातलक्षास्तु सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ।।"

अर्थात् पृथिवी से लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त जितने तत्त्व हैं, वे भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं । जल का स्वभाव द्रवत्व है तो पृथिवी का स्वभाव काठिन्य । इस प्रकार विभिन्न शक्ति सम्पन्न ये तत्त्व परस्पर पूर्ण रूप से ऐक्य के बिना प्रजा की सृष्टि करने में असमर्थ रहते हैं । महत्तत्व से लेकर पृथिवीतत्त्च-पर्यन्त ये सभी तत्त्व एक सङ्घात तथा अर्थात् ब्रह्माण्ड के निर्माण को लक्ष्य में रखते हुए, परस्पर संयोग को प्राप्त हुए, एक दूसरे के आश्रित जो पूर्ण रूप से ऐक्य को प्राप्त कर उपर्युक्त तत्त्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं ।

सृष्टि दो प्रकार की होती है – समष्टि सृष्टि और व्यष्टि सृष्टि । बह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व की सृष्टि को 'समष्टि सृष्टि' तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बाद की सृष्टि

को 'व्यष्टि सृष्टि' कहते हैं । जिस प्रकार ताल के पत्ते को ताटङ्क इत्यादि के रूप में परिणत कर दिया जाता है, किन्तु वह भिन्न-भिन्न आकार में परिणत तालपत्र ही रहता है । उसी प्रकार महदादि की उत्पत्ति होती है । महदादि के रूप में प्रकृति ही परिणत होती है । जिस प्रकार सेना, वन, राशि आदि के व्यवहार स्थल में कारण द्रव्य ही अवस्थान्तर को प्राप्त कर कार्य बन जाते हैं, यही कारण-कार्य-भाव माना जाता है, उसी प्रकार प्रकृति, महान् आदि में कारणकार्यभाव पूर्वावस्था के परित्याग पूर्वक विसजातीय अवस्था की प्राप्ति को ही लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्वान्तर का व्यपदेश होता है । इस प्रकार प्रकृति, महान्, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ तथा पञ्चमहाभूत- इस विभाग के अनुसार 24 तत्त्वों का निरूपण सम्पन्न हुआ । इस निरूपण से 24 तत्त्वों से अधिक तत्त्व मानने वाले तथा उससे कम तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले बाह्यों एवम् पाशुपतों के मत अनादरणीय हैं । वैशैषिक सात पदार्थों को मानते हैं, नैयायिक 16 पदार्थों को मानते हैं तथा पाशुपत 36 तत्त्व मानते हैं । उक्त सभी वादियों का खण्डन उपर्युक्त प्रतिपादन से हो जाता है । इसी प्रकार वैशैषिक, बौद्ध तथा जैन, जो परमाणु को ही जगत का कारण मानते हैं, के मत का भी खण्डन हो जाता है ।

काल का स्वरूप -

सत्त्व गुण, रजोगुण एवम् तमोगुण इन तीनों गुणों से रहित जडद्रव्य विशेष को 'काल' कहते हैं ।[1] वह काल नित्य तथा व्यापक द्रव्य है । वह काल भूत, वर्तमान एवम् भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार का होता है । उस काल को ही लेकर युगपत् (एकसाथ), शीघ्र तथा देर से इत्यादि व्यपदेश होते हैं । काल के द्वारा निमेष, काष्ठा, कला, घटी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष आदि व्यवहार होते हैं । मनुष्यों के एक

---

1. कालो नाम गुणत्रयरहितो जडद्रव्यविशेषः । यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ 100.

माह का पितरों का एक दिन होता है । अमावस्या के दिन ही पितरों का मध्याह्न होता है । मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है । उत्तरायण ही देवताओं का दिन होता है । दक्षिणायन ही देवताओं की रात्रि होती है । इस प्रकार देवताओं के प्रमाण से 12 हजार वर्षों का एक चतुर्युग होता है । उसमें चार हजार वर्षों का एक सत्य युग होता है । इस युग में धर्म पूर्णरूप से रहता है । तीन हजार वर्षों का त्रेतायुग होता है । इस युग में धर्म के तीन पाद होते हैं । दो हजार वर्षों का द्वापर युग होता है । युग में धर्म के दो पाद रहते हैं । एक हजार वर्षों का कलियुग होता है । कलियुग में धर्म एक पाद वाला रहता है । इन युगों की सन्धि दो हजार वर्षों की होती है । इस तरह के एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है । इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि होती है । लीलाविभूति में काल की सबसे बड़ी सीमा ब्रह्मा की आयु है । ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, चौदह इन्द्र तथा चौदह सप्तर्षि मण्डल होते हैं । इनमें से प्रत्येक मनु की आयु इकहत्तर चतुर्युग है । ब्रह्मा भी काल के वशवर्ती हैं । उनकी भी अपनी सौ वर्ष की आयु समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है ।

<u>काल का नित्यत्व</u> –

शैवों ने कहा है कि काल माया से उत्पन्न होता है । किन्तु वेदान्तदेशिक[1] शैवों के मत को असिद्ध करने के लिए शास्त्र प्रमाण देतें हैं –"अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते" अर्थात् काल और भगवान् अनादि सिद्ध हैं, उनका अन्त नहीं होता ।यह काल शरीरक भगवान् का वर्णन है । काल के अनादि एवम् अनन्त होने से ही कालशरीरक भगवान् को अनादि एवम् अनन्त कहा गया है । इस वचन से काल का नित्यत्व सिद्ध होता है ।

---

1. द्रष्टव्य, न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ 151.

यद्यपि काल एक और नित्य है, किन्तु अन्य पदार्थों की तरह जो एक ही कहने पर भी विभिन्न उपाधि सम्बन्ध के कारण अवस्थान्तर होने से एक होते हुए भी अनेक दिखते हैं, उसी प्रकार से काल भी मर्यादित और अनेक दिखाई पड़ सकता है । वस्तुतः यह विचार मर्यादित काल को समझाने के लिए पर्याप्त समझा जाय तो भी अन्य लोग सोचते हैं कि जहाँ तक काल क्षणों का बना हुआ नहीं माना जाता, जिन क्षणों द्वारा परिवर्तनशील काल जाना जाता है, वहाँ तक मर्यादा का विचार समझाने के लिए उपाधि सम्बन्ध असम्भव होगा। क्योंकि ऐसा सम्बन्ध काल में मर्यादा की वास्तविकता की पूर्व कल्पना ग्रहण करता है, जिसपर ही केवल उपाधियों का सम्बन्ध हो सकता है । इस प्रकार यादवप्रकाश मानते हैं कि काल आदि और अनंत है और वह क्षण द्वारा निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, जिनके द्वारा काल का घंटे, रात और दिन में विभाजन हो सकता है तथा जिनके द्वारा पुनः परिवर्तनशील पदार्थों के परिमाप नापे जा सकते हैं ।[1]

काल के भेद –

काल का मुख्यतः दो विभाग किया गया है – अखण्डकाल तथा सखण्डकाल ।[2] 'अखण्डकाल' नित्य है । 'सखण्डकाल' अनित्य है । सखण्डकाल उत्पन्न और विनष्ट होता है। कला, निमेष से लेकर बह्मा की आयुपर्यन्त जितने भी विभाग किये गये हैं, वे सभी सखण्डकाल के अन्तर्गत आते हैं । अखण्डकाल का एक विभाग है सखण्डकाल । वह अखण्डकाल का कार्य है । क्षणनिमेष इत्यादि जितने भी काल के कार्य हैं, उन सभी का उपादानकारण काल ही है ।

---

1. यादवप्रकाशैरप्यभ्युपगतोऽयं पक्षः कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्यक्षणपरिणामीमुहूर्त्ताहोरात्रादिविभागयुक् सर्वेषां परिणामस्पदहेतुः । सर्वार्थसिद्धि, पृ0 148–149 ।

2. द्रष्टव्य, यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ 102 .

काल लीला विभूति में स्वतन्त्र रहता है किन्तु नित्यविभूति में वह श्रीभगवान् की इच्छा के अधीन होता है ।

काल की सत्ता के विषय में विचारकों मे मतैक्य का अभाव है । कुछ लोगों का कहना है कि काल नाम का कोई तत्व है ही नहीं । कुछ लोग तामस महान् को ही काल कहते हैं; किन्तु उक्त दोनों प्रकार के विचारकों के मत अनुचित हैं । काल का प्रतिपादन शास्त्र भी करते हैं । विष्णु पुराण में काल को श्रीभगवान् की विभूति बतलाया गया है – तथाहि – 'ब्रह्मा दक्षादयः कालः .... जनार्दनविभूतयः ।'

काल का प्रत्यक्षत्व –

काल के अवबोध के विषय में आचार्यों का कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द एवम् सुख इत्यादि के बोध में ज्ञान विशेषण रूप से प्रतीत होता है । इन सब का प्रत्यक्ष वर्तमान काल मे ही होता है । अतः शब्द सुखादि के प्रत्यक्ष के साथ–साथ काल का भी प्रत्यक्ष हो जाता है । अतएव काल को भी प्रत्यक्षग्राह्य ही मानना चाहिए । न्यायसिद्धाञ्जन नामक अपने ग्रन्थ में वेदान्तदेशिक ने श्रीनाथमुनि प्रणीत 'न्यायतत्त्व' नामक ग्रन्थ के वाक्यों को उद्‌धृत करते हुए बतलाया है कि सभी ज्ञान काल का ग्रहण करते हुए ही अनुभूत होते हैं । 'यह घट है' इत्यादि ज्ञानों में काल का विशेषण रूप से प्रत्यक्ष होता है । 'वह घट था' इस प्रकार को जो स्मरण होता है कि घट अतीत देश एवम् काल में था, इस प्रतीति से स्मृति के विषय भूत घट के समय में भी काल की सत्ता सिद्ध होती है।[1] इस प्रकार सभी प्रकार के ज्ञानों में विशेषण रूप से प्रतिभाषित होना काल का स्वभाव

---

1. यथासर्वे प्रत्यया कालोपश्लिष्टा एव हि दृष्यन्ते ।तदिति देशकालविशिष्टतयैव स्मृतिरपि जायमाना प्रागपिकालानुभवं साधयति" इति । न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ 165–66.

है, तथापि कभी–कभी विवक्षा विशेष के कारण 'जाति है, जाति नहीं है' इत्यादि प्रतीतियों में विशेष्य रूप से भासता है । 'काल है, काल नहीं है' इत्यादि प्रतीतियों में विशेष्यरूप से भासना विवक्षाकृत है । विशेषणरूप से भासना ही काल का स्वाभाविक रूप है । इस प्रकार सभी प्रतीतियों में विशेषण रूप से प्रतिभाषित होने के कारण ही कहीं-कहीं शास्त्रों में काल की अलग गणना नही की गई है, उसका तात्पर्य यह है कि विशेषण रूप में काल का भान होने से उसके अलग गणना की आवश्यकता नहीं रह जाती । वैशेषिक विद्वान् काल को अनुमेय मानते हैं, किन्तु यह अनौचित्यपूर्ण है, क्योंकि जब काल का प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तो उसे अनुमेय मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ।

* * * *
* *
*

****

चतुर्थ अध्याय

अजडद्रव्य निरूपण

****

1. प्रत्यक् द्रव्य–

   क. जीव

   1. जीव का स्वरूप
   2. जीव का देहेन्द्रियादि से भिन्नत्व
   3. जीव का अणुत्व
   4. जीव का नित्यत्च
   5. जीव का नानात्व
   6. जीव के प्रकार

   ख. ईश्वर

   1. ईश्वर का स्वरूप
   2. ईश्वर की सर्वोच्चता
   3. ईश्वर की सगुणता
   4. ईश्वर के विविध रूप

2. पराक् द्रव्य

   क. धर्मभूत ज्ञान

   1. ज्ञान की नित्यता
   2. ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य एवम् स्वयंप्रकाशत्व
   3. धर्मभूतज्ञान की विभिन्न अवस्थाएँ
   4. ज्ञान की मोक्षसाधकता

   ख. नित्यविभूति

   1. नित्यविभूति का योग्यत्व
   2. नित्यविभूति की दिव्यता

अजडद्रव्य –

'अजडद्रव्य' स्वयंप्रकाश है।[1] स्वयंप्रकाश का तात्पर्य है– प्रकाशकान्तर की अपेक्षा न रखकर स्वतः प्रकाशित होना। इस प्रकार, जो द्रव्य किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशित न होकर स्वयं प्रकाशित होते हैं, वे अजडद्रव्य कहे जाते हैं। अजडद्रव्य दो प्रकार का है– 1. प्रत्यक् तथा 2. पराक्। प्रत्यक्[2] द्रव्य उसे कहते हैं जो अपने लिए तथा स्वयं प्रकाशित होते हैं (आत्मानं प्रति अञ्चति इति प्रत्यक्)। जीव तथा ईश्वर प्रत्यक् द्रव्य हैं। पराक् द्रव्य स्वयं प्रकाश तो होते हैं, किन्तु वे अपने लिए प्रकाशित नहीं होते हैं[3] (परस्मै अञ्चति इति पराक्)। नित्यविभूति तथा धर्मभूतज्ञान ये पराक् द्रव्य हैं।

प्रत्यक् द्रव्य –

जीव तथा ईश्वर प्रत्यक् द्रव्य हैं।

जीव का स्वरूप –

जीव स्वयं ही अपने लिए प्रकाशित होता है, अतः इसे प्रत्यक् द्रव्य कहते हैं। प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व और कर्तृत्वादि जीव के साधारण लक्षण हैं। स्वयं प्रकाशक होना ही प्रत्यक्त्व है। ज्ञान का आश्रय होना चेतनत्व है। शरीर का प्रति सम्बन्धी होना ही आत्मत्व है तथा संकल्प और ज्ञान का आश्रय होना कर्तृत्व है। यह जीव का सामान्य लक्षण है। अणुपरिमाणक होते हुए भी चेतन होना, परमात्मा का शेष होते हुए चेतन होना, ईश्वर का आधेय विधेय होना, पराधीन कर्त्ता होना और परमात्मा का परतंत्र होना आदि जीव के विशेष लक्षण हैं।

---

1. अजडत्वं नाम स्वयंप्रकाशत्वम्। यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 104.
2. प्रत्यक्त्वं नाम स्वस्यैस्वयमेव भासमानत्वम्, वही, पृ. 159.
3. तत्तु स्वयंप्रकाशत्वे सति परस्मा एव भासमानत्वम्, वही, पृ. 104.

जीवात्मा स्वयं प्रकाश तथा नित्य है, जिसका स्वरूप ''अहमहम्'' –ऐसा है। इसीलिए जीवात्मा को प्रत्यक् कहा जाता है। इस पर शङ्का होती है कि क्या प्रत्यक्त्व आत्मस्वरूप है? अथवा आत्मा में स्थित कोई धर्म है? पूर्वपक्षी के अनुसार इन दोनों पक्षों में दोष है, प्रत्यक्त्व तथा जीवात्मा में अभेद मानने पर दोनों में विशेष्यविशेषणभाव तथा धर्माधर्मि–भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि अभेद में विशेषणविशेष्यभाव माना जाय तो भेद व्यपदेशाच्चान्यः[1] तथा 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमभिधीयते'[2] इत्यादि वेदान्त सूत्रों में विरोध होगा। इन सूत्रों की सार्थकता तभी है जब अभेद स्थल में विशेषण-विशेष्यभाव न हो। इस प्रकार प्रथम पक्ष तो अग्राह्य है। प्रत्यक्त्व को आत्मा का धर्म मानने पर तो आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वयं को ही प्रकाशित कर सकता है, अपने से व्यतिरिक्त प्रत्यक्त्व को प्रकाशित नहीं कर सकता है। यदि मान लिया जाय कि धर्मभूतज्ञान' के समान स्वव्यतिरिक्त पदार्थों का प्रकाश होगा, तो भी आत्मा को विषयी मानना होगा, जो अयुक्त है, क्योंकि विषयित्व धर्मभूतज्ञान का तथा प्रत्यक्त्व आत्मा का धर्म है। अतः दोनों विकल्पों के दूषित होने पर निर्वाह कैसे होगा? इस शङ्का का समाधान इस रूप में किया जाता है कि प्रत्यक्त्व आत्मा का धर्म ही है। प्रत्यक्त्व के प्रकाशन से आत्मा का विषयी होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विषयित्व का स्वरूप है कि अपने में अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से रहने वाले धर्मो को छोड़कर इतर पदार्थों का प्रकाशक होना।

जीव (आत्मा) के स्वतःसिद्धत्व, स्वप्रकाशत्व तथा स्वचैतन्यत्व के बारे में आचार्ययामुन कहते हैं कि वह अनुमान और आगम से जाना जाता भी योगज प्रत्यक्ष से

---

1. ब्रह्मसूत्र, 1/1/22.
2. वही, 1/2/21.

स्पष्टतया प्रकाशित होता है।[1] श्रुतियाँ भी कहती हैं कि यह जीवात्मा, दर्शन करने वाला, समझनेवाला, रस चखनेवाला, गन्ध सूँघने वाला, मनन करनेवाला, कर्त्ता एवं विज्ञानरूप है।[2] आचार्य रामनुज जीव के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं कि वह देवादि देहों से विलक्षण, ज्ञानमात्रस्वरूप हैं और वह परब्रह्म भगवान् के लिए बनी रहने वाली वस्तु है।[3] आत्मा की ज्ञानमयता में स्मृति प्रमाण है कि –''आत्मा ज्ञानमयोऽमलः' अर्थात् आत्मा ज्ञान रूप और निर्मल है।

विशिष्टाद्वैत में आत्मा को पराधीन कर्त्ता और परतंत्र आदि कहा गया है।[4] जीव ईश्वर के अधीन रहकर ही सारी क्रियाओं को करता है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि रामनुज प्रभा–प्रभावान् की तरह ज्ञान को आत्मा का स्वरूप भी मानते हैं और धर्म भी। भगवान् भाष्यकार के अनुसार 'पतिं विश्वस्य'[5] इत्यादि श्रुतियों द्वारा आत्मा का 'ब्रह्मशेषत्व' तो सिद्ध ही है।

---

1. एवमात्मा स्वतः सिद्ध्यन्नागमेनानुमानतः ।
   योगाभ्यासभुवा स्पष्टं प्रत्यक्षेण प्रकाश्यते ।।
   – सिद्धित्रय, कारिका–43.

2. एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राताः मन्ता, बोद्धा
   कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। प्रश्नोपनिषद्–4/9

3 आत्मस्वरूपं तु देवादि देहविलक्षणं ज्ञानैककारकं,
   तच्च परशेषतैकस्वरूपम्। वेदार्थसंग्रह–पृ.349.

4. एममाधेयत्व–विधेयत्व–पराधीनकर्तृत्व–परतंत्रत्वादिकमूह्यम्।
   –यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 159.

जीवात्मा का देहेन्द्रियादि से भिन्नत्व –

जीव देह, इन्द्रिय, मन, प्राण एवं ज्ञान से भिन्न है।[1] यह 'मेरा शरीर है' इस प्रतीति से आत्मा देह से भिन्न सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मैं आँख से देखता हूँ, श्रोत्रेन्द्रिय से सुनता हूँ, वाणी से बोलता हूँ' इत्यादि ज्ञान के द्वारा आत्मा बाह्येन्द्रियों से भिन्न सिद्ध होता है। 'मैं मन से जानता हूँ' इस प्रतीति से मन ज्ञान का साधन प्रतीत होता है, 'मेरे प्राण हैं' इस भेदोक्ति के द्वारा तथा 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीति के द्वारा आत्मा मन, प्राण तथा ज्ञान से भिन्न सिद्ध होता है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में चार्वाकसम्मत देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद मन–आत्मवाद, तथा प्राणात्मवाद और बौद्ध व अद्वैत–सम्मत ज्ञानात्मवाद का खण्डन किया जाता है।

जीवात्मा का अणुत्व –

आत्मा को विशिष्टाद्वैत वेदान्त में 'अणुरूप' कहा गया है, क्योंकि 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'[2] , 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'[3] और 'बालाग्रशतभागस्य शतधाकीर्तितस्य च। भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥'[4] इत्यादि श्रुतियों के द्वारा आत्मा का अणुपरिमाणत्व सिद्ध है।

---

1. स च देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्यो विलक्षणः। –यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 161.
2. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/9
3. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5/8
4. वही, 5/9

जीवात्मा का नित्यत्व –

आत्मा को विशिष्टाद्वैत वेदान्त में नित्य माना जाता है। आचार्य रामानुज जीवात्मा को नित्य मानते हैं और कहते हैं कि इसका कभी नाश नहीं होता। वे श्रुतिप्रमाण देते हैं जिनमें कहा गया है कि 'आत्माअविनाशी है'।[1] वह न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है।[2] यह नित्यों में नित्य है।[3] रामानुज कहते हैं कि 'जीव उत्पन्न होता है' या 'जीव मरता है' इत्यादि जो प्रयोग लोक में देखे जाते हैं, उनका तात्पर्य जीव के प्राकृत देहादि के संयोग वियोगादि से है[4]। अतः श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवात्मा नित्य है।

जीवात्मा का नानात्व –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में सांख्य, जैन, मीमांसा तथा न्याय की तरह जीवात्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है। यामुनाचार्य ने 'प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नस्वतःसुखी'[5] कहकर आत्मा को प्रति शरीर भिन्न बताया है। रामानुज भी आत्मा को प्रतिशरीर भिन्न मानकर उसे अनेक बताते हैं[6]। उनके अनुसार प्रत्येक शरीर गत जीव के लिए स्मृति, अनुभव,

---

1. कठोपनिषद् , 1/2/18
2. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/3
3. वृहदारण्यकोपनिषद्, 6/5/14
4. श्रीभाष्य, 2/3/18
5. सिद्धित्रय, कारिकांश–3.
6. श्रीभाष्य, 1/2/1

सुख-दुःख, इन्द्रिय और प्रयत्न इत्यादि के व्यवस्थित होने के कारण,जीव परस्पर भिन्न एवं अनेक हैं। यहाँ पर साभरि आदि योगी ही अपवाद हैं जो अकेले ही अनेक शरीरों को धारण करते हैं। जीव की इसी अनेकता को न्यायिकों ने 'नानात्मानो व्यवस्थातः'[1] इस सूत्र द्वारा स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन में भी –

'जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।[2]

इस कारिका के आधार पर जीवात्मा की अनेकता सिद्ध किया गया है।

पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट जीव नित्य होता हुआ अपने आधार, नियामक, शरीरी, अंशी और प्रकारीभूत ब्रह्म से अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध से नित्य सम्बद्ध है। ब्रह्म व्यतिरिक्त उसकी कोई सत्ता नहीं है। वह स्वकृत पूर्व कर्मो के आधार पर विभिन्न शरीर प्राप्त करके कर्मजन्य भोगों का भोग करता है। इनके कर्मकृत भोगों की समाप्ति के पश्चात् भी जीव स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर के साथ अर्चिरादि मार्ग द्वारा लोकान्तर गमन करता है।[3]

<u>जीव के प्रकार –</u>

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में जीव की नित्य, मुक्त एवं बद्ध - ये तीन कोटियां

---

1. न्याय सूत्र, 13/2/20
2. सांख्यकारिका, 18
3. श्रीभाष्य, 4/3/1

मानी गयीं। आचार्य रामानुज भी इसी विभाग को मान्यता देते हैं। वेंकटनाथ ने जीव का विभाग [1] संसारी तथा असंसारी इन दो भागों में करके पुनः संसारी को नित्य संसारी तथा भाविसंसारविरही दो भागों में बांटते हैं। असंसारी के भी वे दो प्रकार करते हैं– 1. संसार अत्यन्ता भाववाले, 2. संसार नाशवाले। इन्हीं को अन्यत्र यतीन्द्रमतदीपिका आदि में नित्य, बद्ध और मुक्त कहा गया है।

नित्य जीव –

ईश्वर या ब्रह्म की त्रिपाद्विभूति में नित्य विराजमान रहने वाले 'जीव' नित्य जीव कहे जाते हैं। अनन्त, गरूड़ और विश्वक् सेनादि नित्य जीव हैं। ये कभी भी ईश्वर प्रतिकूल आचरण नहीं करते, अतः इनके ज्ञान का संकोच कभी भी नहीं होता।[2] नित्य जीवों का वैकुण्ठधाम में विराजमान रहना इत्यादि विशेषाधिकार ईश्वर की इच्छा से आदिकाल से ही निर्धारित कर दिये गये हैं।[3] नित्य जीव भी कभी–कभी अवतार ग्रहण किया करते हैं, किन्तु इनका अवतार कर्माधीन नहीं होता अपितु भगवान के अवतार के समान स्वेच्छा पर आधारित होता है।[4]

---

1. न्यायसिद्धाञ्जन, पृ. 29.
2. नित्या नाम कदाचिदपि भगवदभिमतविरुद्धाचरणाभावेन ज्ञानसंकोचप्रसङ्गरहिता अनन्तगरुडविश्वक्सेनादयः। यतीन्द्रमतदीपिका, पृ.215.
3. तेषामधिकारविशेषाः ईश्वरस्य नित्येच्छयैव अनादित्वेन व्यवस्थापिताः, वही, पृ.215
4. एतेषामवतारस्तु भगवदवतारवत् स्वेच्छयैव। वही, पृ. 215.

मुक्त जीव –

मुक्त जीव वे हैं जो अनन्त काल से संसार में निमग्न रहकर स्वकृतकर्मो के परिपाक का भोग कर रहे थे, किन्तु ईश्वराभिमत कर्मो का अनुष्ठान करते हुए ईश्वर की कृपा से शरीरपात वेला में समस्त कर्मसंस्कारों का त्याग करते हुए लोक को छोड़कर अर्चिरादि मार्गों द्वारा विभिन्न स्वागतों से सम्मानित और दिव्य विग्रह युक्त होकर दिव्य वैकुण्ठधाम में प्रवेश के अनन्तर अपहतपाप्मत्व, विजरत्व, विमृत्युत्व, विशोकत्व, विजिघत्सत्व, अपिपासितत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्वरूप अष्टगुणों से सम्पन्न होकर अनन्त काल तक ब्रह्मानुभव प्राप्त करते हुए भगवान् की नित्यविभूति में विद्यमान है। इन्हें भी ब्रह्मतुल्य भोगसाम्यता प्राप्त है, किन्तु जगत् व्यापार के संदर्भ में नहीं।[1] मुक्त पुरुष भी लोककल्याणार्थ स्वेच्छया शरीरधारण करके लीलाविभूति में आ सकते हैं। इनका भी यह अवतार कर्माधीन न होकर स्वेच्छया या फिर ईश्वरेच्छया होता है। मुक्त जीवों से नित्य जीवों का भेद यही है कि ये जीव अनादिकाल से असंख्य बार कर्मपरवश होकर जीवन–मरण रूप दुख अनुभव करते हैं, किन्तु अब भगवत् कृपा से मुक्ति प्राप्त कर चुके होते हैं। जबकि नित्य जीव कभी भी कर्माधीन शरीर धारण करके ईश्वर की एकपाद विभूति में नहीं आये रहते हैं।

बद्ध जीव –

ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त समस्त सृष्टिप्रपंच में रहने वाले समस्त भूतजात बद्ध जीव हैं। ये अनादिकाल से संसारसागर में निमग्न रहते हैं। स्वप्रारब्धानुसार जन्ममरण समेत असंख्य यातनाओं को भोगने वाले ये जीव जरायुज, अण्डज, स्वेदज, और उद्भिज रूपेण

चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। जरायु से उत्पन्न होने वाले जरायुज कहलाते हैं। देव और मनुष्य जरायुज हैं। जो मां की योनि से नहीं उत्पन्न हैं, वे अयोनिज कहे जाते हैं। इनमें ब्रह्मा, रुद्र, सनकादि, सीता, द्रौपदी और दृष्टद्युम्नादि तथा भूतवेतालप्रभृति अयोनिज हैं। तीर्यक जीवों में कुछ तो जरायुज हैं यथा पशु–मृग आदि तथा कुछ अण्डज हैं जैसे– पक्षी, सरीसृपादि एवं कुछ श्वेदज भी हैं जैसे–यूका आदि। स्थावर जीवों को उद्भिज इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये पृथ्वी को फाड़कर उत्पन्न होते हैं जैसे– वृक्षादि[1]।

बद्ध जीवों के भेद –

इन बद्धजीवों को पुनः शास्त्रवश्य तथा शास्त्रावश्य रूप दो कोटियों में रखा जाता है। मनुष्यादि शास्त्रवश्य जीव हैं और पशु--पक्षी तथा वृक्षादि शास्त्रावश्य जीव हैं। पुनः शास्त्रवश्यों के दो भेद किये जाते हैं– बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुबुक्षु जीव धर्माधर्मकामपरायण होते हैं। इनमें धर्मपरायण जीव देवतान्तर भक्त और भगवद्भक्त रूप में द्विधा माने जाते हैं। भगवद् भक्तों के भी आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीन भेद होते हैं।

इसी प्रकार 'मुमुक्षु' जीव 'कैवल्य परायण' और 'मोक्ष परायण' के भेद से दो प्रकार के होते हैं। मोक्ष परायण जीवों के 'भक्त' और 'प्रपन्न' रूप भेद कहे गए हैं। भक्त भी साधन और साध्यभक्तिनिष्ठ से दो प्रकार के हैं, जिनमें व्यासादि साधनभक्तिनिष्ठ माने जाते हैं और नाथमुनि आदि साध्यभक्तिनिष्ठ माने जाते हैं।

प्रपन्नों के भी धर्मार्थकामाभिलाषी तथा मोक्षाभिलाषी से दो भेद होते हैं। इनमें

---

1. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 187.

मोक्षाभिलाषी प्रपन्न पुनः द्विधा विभक्त किए जा सकते हैं। इनमें मोक्ष के साथ अन्य फल की चाह करने वाले को 'एकान्ती' और मोक्षैकफलवाले को ''परमैकान्ती'' कहा जा सकता है। परमैकान्ती प्रपन्न भी 'आर्त्त' और 'हप्त' भेद से दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार जीवों को विभिन्न विभागों -- उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है।

ब्रह्म से पृथक् किन्तु अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध से उससे सम्बद्ध जीवात्मा के प्रतिपादन द्वारा विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों ने भरपूर प्रयास किया है कि उनके जीव सम्बंधी विचार को श्रुतियों का आधार तो मिले ही, उसके साथ ही साथ तर्क और अनुभव का भी अपलाप न हो। इस प्रयास में रामानुजाचार्य तो बहुत हद तक सफल भी हुए हैं।

ईश्वर का स्वरूप –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर को जीव और जगत् से विशिष्ट स्वीकार किया गया है। यही ईश्वर 'ब्रह्म' इस अपरनाम से जाना जाता है। यह ब्रह्म या ईश्वर एक होते हुए भी चिद्रूप जीव तथा जड प्रकृति से युक्त है। जीव और प्रकृति की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। ब्रह्मांतर्गत जीव तथा प्रकृति की सत्ता स्वीकार करने के कारण ब्रह्म के स्वगत भेद को विशिष्टाद्वैत वेदान्त में स्वीकार किया गया है। स्वगत भेद से अभिप्राय वृक्ष की अपनी शाखाओं और पत्तों के भेद आदि से है। यह ईश्वर स्वयं प्रकाश तथा नित्य है, जीव और प्रकृति भी नित्य है किन्तु इनकी सत्ता में अन्तर यह है कि ब्रह्म कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ है। वह सर्वतंत्र स्वतंत्र है, किन्तु जीव और प्रकृति की स्थिति ब्रह्माधीन है।[1]

---

1. तद्व्यतिरिक्तस्य समस्तस्य तदायत्तताम्। वेदार्थ संग्रह, पृ. 218.

सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्म-समाराध्यत्व, सर्वकर्मफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, सर्वशब्दवाच्यत्व, स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरित्व आदि ईश्वर के लक्षण हैं।[1] विष्णुपुराण का यह वाक्य 'विष्णोरेता विभूतयः' ईश्वर के सर्वेश्वरत्व को ही बताता है।

ईश्वर या ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। यह ईश्वर सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्ट रूप से जगत् का उपादान कारण है। वह संकल्पविशिष्ट रूप से जगत् का निमित्तकारण होता है। ईश्वर काल आदि के अन्तर्यामी रूप से जगत् का सहकारीकारण होता है। कार्य का उपादानकारण वह वस्तु होती है, जिस वस्तु में कार्य रूप में परिणत होने की योग्यता होती है। जो उपादानकारण को कार्य रूप में परिणत करता है, वह कार्य का निमित्तकारण होता है। जो वस्तु कार्य की उत्पत्ति की सामग्री होती है, वह उस कार्य का सहकारीकारण कहलाती है। अथवा, उस द्रव्य को उपादानकारण कहते हैं, जो द्रव्य उत्तरोत्तर अवस्थाविशिष्टस्वरूप के लिए अपेक्षित उसके अनुकूल नियतपूर्वभावी अवस्था से विशिष्ट होता है। जैसे उत्तरभावी घटत्वावस्थाविशिष्ट मृद्द्रव्य के लिए अपेक्षित उसके अनुकूल नियतपूर्वभावी अवस्था पिण्डत्वावस्था से विशिष्ट मृद्द्रव्य उपादानकारण है। निमित्तकारण उसे कहते हैं, जो कारण परिणामौन्मुख्य से भिन्न आकार से अपेक्षित होता है। इस पक्ष में सहकारीकारण का निमित्तकारण में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

---

1. सर्वेश्वरत्वं, सर्वशेषित्वम्, सर्वकर्मसमाराध्यत्वम्, सर्वकर्मफलप्रदत्वम्, सर्वाधारत्वम्, सर्वकार्योत्पादकत्वम्, (सर्वशब्दवाच्यत्वम्), स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरित्वमित्यादीनीश्वरलक्षणानि।

— यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ संख्या – 217.

ब्रह्म के दो रूप हैं–प्रथम, 'चिदचिद्विशिष्टकारण ब्रह्म' जिसे ईश्वर कहते हैं। दूसरा, 'स्थूलचिदचिद्विशिष्ट कार्य ब्रह्म' इसे जीव कहते हैं।[1] वस्तुतः ये ब्रह्म की दो अवस्थाये हैं। यह दृश्यमान सृष्टि ब्रह्म की कार्यावस्था है। ब्रह्म से ही चिद्चिद्रूपजगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होती है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ को स्पष्ट किया गया है।[2]

ईश्वर की सर्वोच्चता –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर का तात्पर्य केवल भगवान् नारायण अर्थात् विष्णु से है, क्योंकि सभी श्रुतियाँ पुराणादि परमतत्व के रूप में उन्हीं परमात्मा वासुदेव का वर्णन करते हैं। श्रुतियों में परम कारण के रूप में गृहीत सत्,[3] ब्रह्म,[4] आत्मा[5] आदि शब्दों द्वारा नारायण का ही उल्लेख छागपशुन्याय से हुआ है। इसका अभिप्राय है कि सच्छब्ध का

---

1. नामरूप विभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरंब्रह्मकारणावस्थम्, नामरूप विभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्।

--वेदार्थ संग्रह, पृष्ठ संख्या–149.

2. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानिजीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।

–तैत्तिरीयोपनिषद्–भृगुपल्ली. प्रथम अनुवाक्.

3. सदेव सोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम्। –छान्दोग्योपनिषद्, 6/2/1

4. यतो वा इमानि0 –तैत्तिरीयोपनिषद्–प्रथम अनुवाक्.

5. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किंचन मिषत्। –ऐतरेयोपनिषद्–1.

वृहद् और अवृहद् दोनों में साधारण होने के कारण वृहदर्थक ब्रह्म रूप, विशेष चेतन और अचेतन दोनों में सामान्य रूपेण गृहीत चेतनपरक आत्मा रूप विशेष में तथा समस्त चेतनों हेतु प्रयुज्यमान आत्मा से नारायण का ही बोध, सत् ,ब्रह्म या आत्मा आदि शब्दों के द्वारा होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी उल्लिखित अक्षर शिव, शम्भु, हिरण्यगर्भ, परमब्रह्म, परमज्योति, परतत्व आदि शब्दों का भी पर्यवसान उन–उन गुणों से विशिष्ट होने के कारण नारायण में ही होता है।[1] यही नहीं 'विष्णुस्तदा सीद्धरिरेव निष्कलः[2] इत्यादि श्रुतिवाक्यों में परमकारण के रूप में उल्लिखित विष्णु ही नारायण से समानार्थकता होने के कारण भगवान् विष्णु ही परमतत्त्व है, ऐसा निश्चय होता है।

ईश्वर की सगुणता –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर या ब्रह्म की सगुणसत्ता स्वीकार की गयी है। क्योंकि 'अपहतपाप्मा विजरो, विमृत्युः विशोको विजिघत्सो पिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः'[3], 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यज्ञानमयं तपः'[4] इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के सगुणत्व का विधान करती हैं। किन्तु शङ्.का यह होती हैं कि ईश्वर को सगुण मान लेने पर 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि निर्गुण प्रतिपादक श्रुतियों से क्या श्रुति विरोध नहीं उत्पन्न होगा? इस शङ्.का का समाधान आचार्य रामानुज यह कहते हुए करते हैं कि निर्गुण श्रुतियों का

---

1. वेदार्थ संग्रह, पृ. 213.
2. महानारायणोपनिषद्.
3. छान्दोग्योपनिषद्, 8/7/1.
4. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/10.

तात्पर्य ब्रह्म को निर्गुण बताना नहीं, अपितु प्राकृत समस्त हेय गुणों से रहित बताना है।[1]

ईश्वर को सगुण बताने का तात्पर्य श्रुति–स्मृतिविहित उसके सर्वविलक्षणत्व, सत्यसंकल्पत्व, सत्यकामत्व आदि से है। इसी प्रकार ' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ', 'आनन्दं ब्रह्म ', इत्यादि श्रुतियाँ श्री समस्त हेय गुणों से रहित आनन्द रूप ज्ञान ही परम ब्रह्म का निरूपक धर्म है, ऐसा बोध होता है।

भगवान् के अनन्त कल्याणगुणगणत्व का वर्णन आचार्य यामुन निम्न शब्दों में करते हैं –

> वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
> र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरस्समः ।
> कृतो कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
> समस्तकल्याणगुणामृतोदधि : ।।[2]

अर्थात् हे भगवान् आप स्वभाव से ही आश्रितों के परतंत्ररूपी वशी गुण के आश्रय हैं, आप परम उदार स्वभाववाले सुशीलगुणयुक्त सरल एवं कपट रहित मन, वाणी तथा शरीर से विशुद्ध कोमल स्वभाववाले, भेद–भाव रहित, समदर्शी, उपकार करने वाले, सेवा को स्मरण करनेवाले, तथा अनन्त कल्याणगुणगणाकर तथा अमृत के सागर

---

1. क. वेदार्थ संग्रह, पृ. 108.
   ख. निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणः हेयगुणसम्बन्धाद् उत्पद्यते।
2. स्तोत्ररत्न, श्लोक–21.

हैं। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर को सगुण रूप में वर्णित किया गया है तथा उनके महिमामय रूप एवं गुणों का बखान किया गया है।

ईश्वर के विवध रूप –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में अर्थपञ्चक विज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है। उस अर्थपञ्चक विज्ञान के अनुसार ईश्वर के पांच रूप हैं[1] जो निम्नलिखित हैं –

पररूप –

'पर' रूप से भगवान् त्रिपाद्विभूति में विराजमान रहते हैं। ये दिव्यमङ्गल विग्रह से विशिष्ट रहते हैं। श्रीवैकुण्ठ नामक दिव्य निलय में ये श्रीदेवी, भूदेवी, और नीलादेवी से सुसेवित रहते हैं। भगवान् के इस रूप का नित्यमुक्त जीव सेवन किया करते हैं। श्रीभगवान् पर,वासुदेव, पर – ब्रह्म, तथा नारायण आदि शब्दों से अभिहित किये जाते हैं। आगम शास्त्रों, धर्मशास्त्रों[2] में भी भगवान् के इस रूप का वर्णन मिलता है।

व्यूह–रूप –

'व्यूह' भगवान् का दूसरा रूप है। इस रूप में वे अपने को 'वासुदेव', संकर्षण,

---

1. एवम्प्रकारकः ईश्वरः पर- व्यूह- विभवान्तर्याम्यर्चावताररूपेण पञ्चप्रकारकः।
   –यतीन्द्रमतदीपिका, पृ.सं. 247.

2. एवं वैकुण्ठनाथोऽसौ राजते परमेपदे।
   सेव्यमानः सदा नित्यैर्मुक्तैर्भोगपरायणैः।
   –पराशरीय धर्मशास्त्र, उ.ख., 6/46.

प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्धा विभक्त करते हैं।[1] इन रूपों में वासुदेव षाड्गुण्य से परिपूर्ण रहते हैं। संकर्षण ज्ञान और बल से परिपूर्ण रहते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य से युक्त हैं। अनिरुद्ध शक्ति तथा तेज से सम्पन्न रहते हैं।

चार व्यूहों में से प्रत्येक के तीन–तीन व्यूहान्तरों का अविर्भाव होता है। केशव, नारायण, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर ये भगवान् के द्वादश व्यूहान्तर कहे जाते हैं।[2] ये क्रमशः बारह मासों तथा बारह आदित्यों के अधिष्ठातृ देवता कहे जाते हैं। इन द्वादश व्यूहान्तरों का स्थान श्री वैष्णवों के द्वारा धारण किये जाने वाले द्वादश अर्धपुण्ड्रों में होता है।

व्यूह–रूपों का प्रयोजन –

श्रीनिवासाचार्य श्रीभगवान् के व्यूह रूप में अवतीर्ण होने के दो प्रयोजनों का निर्देश करते हैं– उपासकों का अनुग्रह तथा सृष्टि, स्थिति एवं संहारक्रिया का संपादन। 'लोकाचार्य' व्यूहरूप धारण करने का तीसरा प्रयोजन 'संसारी जीवों का संरक्षण ' बतलाते हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि लोकाचार्य भी तीन ही व्यूहों को मानते हैं। पाञ्चरात्र की

---

1. व्यूहोनाम पर एवोपासनार्थं जगत्सृष्ट्याद्यर्थं च, वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्ध भेदेन चतुर्धावस्थितः। —यतीन्द्रमतदीपिका, 249.

2. वही, पृ. 249.

3. व्यूहोनाम सृष्टिस्थितिसंहारार्थं संसारिसंरक्षणार्थम् उपासकानुग्रहार्थञ्च सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावस्थानम्' —तत्वत्रय– 3/36

विश्वामित्रसंहिता[1] में भी कहा गया है –

'वासुदेवात् ततो जज्ञे सङ्.कर्षणसमाह्वयः।
तस्मात् प्रद्युम्नसम्भूतिरनिरुद्धस्ततोऽभवत् ।।
एते सर्वे चैकवक्त्राः यतुर्बाहुसमन्विताः ।।'

अर्थात् तदनन्तर वासुदेव से भगवान् संकर्षण नाम से उत्पन्न हुए, उनसे प्रद्युम्न की उत्पत्ति हुई और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए। श्रीभगवान् के ये सभी रूप एक मुख्य वाले एवं चार भुजाओंवाले हैं।

विभव–रूप –

विभव रूप में भगवान् देव–मनुष्यादि के सजातीय रूप से अवतीर्ण होते हैं। भगवान् के प्रधान देश विभव रूप हैं– मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, श्रीरामावतार, बलरामावतार, श्रीकृष्णावतार तथा कल्किअवतार। इन दश अवतारों के प्रत्येक के अनन्त अवतार हैं। इन अवतारों का प्रयोजन दुष्टों का निरासपूर्वक सज्जनों की सुरक्षा ही है।

अन्तर्यामी–रूप –

जीवों द्वारा स्वर्ग, नरक आदि के अनुभव की दशा में भी जीवात्मा के भिन्न रूप से योगियों द्वारा देखे जाने योग्य रूप से जीवों के हृदय प्रदेश में रहने वाला जो भगवान्

---

1. विश्वामित्र-संहिता, 4/15–16.

का रूप है, वही अन्तर्यामी कहलाता है।

अर्चावतार – रूप –

देशविप्रकर्ष तथा काल विप्रकर्ष आदि का त्याग करके आश्रितों के अनुकूल द्रव्य आदि को शरीर रूप से स्वीकार करके, उसी में दिव्य शरीर से युक्त होकर अर्चक के पराधीन स्थान, भोजन, आसन, शयन, तथा स्थिति करने वाले, सब कुछ सहने वाले, परिपूर्ण गृह, ग्राम, नगर, प्रशस्त तथा पर्वत आदि पर रहने वाले श्रीभगवान् के मूर्ति विशेष को अर्चावतार कहते हैं। अर्चावतार के चार भेद हैं– स्वयं, व्यक्त, दैव, और मानुष।[1]

रामानुज वेदान्त ने अर्चावतार के प्रतिपादन द्वारा उस समय दक्षिण भारत के प्रचलित और आलवार संतों के प्रिय वेंकटाद्रि शिखरों पर विराजित मूर्तियों की उपासना को साक्षात् ईश्वरोपासना का रूप देकर, मूर्तिपूजा को शास्त्रीय आधार प्रदान किया है। यह विशिष्टाद्वैत वेदान्त की भारतीय समाज को अमूल्य देन है।

पराक् द्रव्य –

धर्मभूतज्ञान एवं नित्यविभूति – ये दोनों पराक् द्रव्य के अंतर्गत आते हैं।

धर्मभूत ज्ञान –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में 'ज्ञान' को ही धर्मभूतज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। इसका कारण है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं ज्ञान का आश्रय है।

---

1. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 256.

जो ज्ञान आत्मा का धर्म होता है उसे धर्मभूत ज्ञान कहते हैं ।स्वयं प्रकाश द्रव्य होते हुए भी विषययुक्त होना धर्मभूतज्ञान का लक्षण है । इसके अतिरिक्त व्यापक होते हुए प्रभावान् दव्य का गुण होना भी धर्मभूत ज्ञान का लक्षण हें ।[1]

ज्ञान की नित्यता –

ईश्वर तथा जीवात्माओं का ज्ञान सदैव नित्य तथा व्यापक होता है ।[2] मुक्त जीवों का ज्ञान मुक्ति के पूर्व तो तिरोहित रहता है, किन्तु मुक्ति के पश्चात् उनका भी ज्ञान सर्वदा सभी विषयों को असंकुचित रूप से अपना विषय बनाने के योग्य हो जाता है । किन्तु बद्ध जीवों का ज्ञान सभी विषयों को अपना विषय बनाने योग्य नहीं रहता है । वह कर्मो के द्वारा संकुचित रहता है ।

जीवात्मा की बुद्धि की नित्यता का प्रतिपादन करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं कि ज्ञाता के ज्ञान का नाश नहीं होता, द्रष्टा की दृष्टि का नाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञाता एवं द्रष्टा की आत्मा अविनाशी है।[3] जीवों के ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन बादरायण के दो सूत्र भी करते हैं –'ज्ञोऽत एव' (ब्रह्मसूत्र 2/3/19) तथा 'भावदात्मभावित्वात् च न दोषः तद् दर्शनात्' (ब्रह्मसूत्र 2/3/30) ।इस प्रकार नित्य आत्मा का ज्ञान नित्य धर्म सिद्ध होता है ।

---

1. संवित् स्वयंप्रकाशत्वे सत्यचेतनद्रव्यत्वे सति सविषयत्वम् । .... विभुत्वे सति प्रभाववद्द्रव्यगुणात्मकत्वं, अर्थप्रकाशो बुद्धिरित्यादि तल्लक्षणम्।
   यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ 116
2. तद्धर्मभूतज्ञानम् ईश्वरस्य नित्यानां च सर्वदा नित्यमेव विभु च । वही, पृ0 116
3. (क) न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विलोपो विद्यते अविनाशित्वात् । वृहदारण्यक उप0 4/3/23
   (ख) नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् । वही, 4/3/30

ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य एवं स्वयंप्रकाशत्व –

सभी ज्ञान स्वतः प्रामाणिक एवम् स्वयंप्रकाश होते हैं । विवादास्पद ज्ञान अपने सभी व्यवहारों के प्रति स्वाधीन प्रकाश वाला है, क्योंकि वह अपने व्यवहारों के लिए इन्द्रिय तथा दीपादि के समान अपने किसी सजातीय वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता । चक्षु तथा प्रकाश दोनों सजातीय नही हैं क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय आहंकारिक है तथा प्रकाश तैजस है, अतएव उन दोनों में भेद स्पष्ट है । इस प्रकार ज्ञान क्षणिक, तीन क्षणों तक स्थायी तथा प्रातिभाषिक ज्ञान के ही समान व्यावहारिक ज्ञान को मिथ्या मानने वालो का मत तथा ज्ञान का परतः प्रामाण्य स्वीकार करने वाले नैयायिकों का मत खण्डित हो जाता है । 'स्तम्भः स्तम्भः'इत्यादि धारावाहिक स्थल में होने वाला ज्ञान एक ही है।[1]

धर्मभूत ज्ञान की विभिन्न अवस्थाएँ –

ज्ञान मति, प्रज्ञा, संवित्, धिषणा, मनीषा, शेमुषी, मेधा, बुद्धि आदि ज्ञान के विभिन्न नामधेय हैं । उपाधियों के भेद से ज्ञान ही सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि रूपों वाला होता है । प्रश्न उठता है कि 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव'[2] इस श्रुति वाक्य में कामादि को मन बताया गया है। किन्तु कामादि को मन का रूप बताने वाली इस श्रुति से विशिष्टाद्वैतियों के मत का विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि वे कामादि को ज्ञान का रूप मानते हैं तब ये सब ज्ञान रूप कैसे हैं? इसका समाधान करते हुए श्रीनिवासाचार्य ने कहा कि इस श्रुति की मान्यता का विशिष्टाद्वैती मान्यता से कोई विरोध नहीं है । वस्तुतः उक्त श्रुति में कामादि की मनोरूपता का औपचारिक प्रयोग है, क्योंकि मन नियमतः ज्ञान का सहकारी कारण होता है ।[3]

---

1. यतीन्द्रमतदीपिका पृष्ठ 119 ।
2. वृहदारण्यकोपनिषद्
3. ज्ञानस्य मनस्सहकारित्वनियमात् मन एवेत्युपचारादुक्तमिति न विरोधः। वही, पृ0 129

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मरण, संशय, निर्णय, विपर्यय, भ्रम, विवेक, व्यवसाय, मोह, राग, द्वेष, तृष्णा, दुराशा, वासना, भक्ति तथा प्रपत्ति आदि जीवात्माओं के अनन्त गुण हैं तथा धर्मभूत ज्ञान के अवस्था विशेष हैं । अतः ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारूण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, अवदार्य, चातुर्य आदि श्रीभगवान् के अनन्त गुण समूह भी भगवान् के ज्ञान तथा शक्ति के विस्तृत रूप हैं ।

ज्ञान की मोक्षसाधकता –

भक्ति व प्रपत्ति को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है । भक्ति और प्रपत्ति इसी ज्ञान के प्रकार विशेष हैं ।[1] इसलिए ज्ञान भी मोक्ष प्राप्ति का साधन हुआ । महनीय विषयिणी प्रीति को भक्ति कहते हैं । भगवान् को एकमात्र शरणरूप से स्वीकार करके उनकी शरणागति 'प्रपत्ति' है । शास्त्रों में ज्ञानयोग और कर्मयोग को भक्ति कहा गया है किन्तु कर्मयोग एवम् ज्ञानयोग साक्षात् मोक्ष के साधन नही हैं । ये भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्रदान करते हैं । अतएव इनकी सद्धारक मोक्षप्रतिपादकता है ।

नित्यविभूति –

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में परमात्मा की दो विभूतियाँ स्वीकार की गई हैं – श्रीविभूति तथा नित्यविभूति । श्रीविभूति या लीलाविभूति के अन्तर्गत समस्त जगत् आ जाता है । नित्य विभूति श्रीभगवान् के दिव्य वैकुण्ठधाम को कहते हैं । ऋग्वेद में भी परमात्मा के दोनों विभूतियों का निर्देश है ।[2]

---

1. भक्तिःज्ञानविशेष एव । — वेदार्थसंग्रह
2. पादोऽस्य भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।
   एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । — ऋग्वेद, पुरुषसूक्त

नित्य विभूति को शुद्ध सत्त्व तथा त्रिपाद् विभूति भी कहा जाता है । नित्य विभूति को शुद्ध सत्त्व इसलिए कहा जाता है,क्योंकि इसमे रहने वाला सत्व गुण प्राकृतिक न होकर दिव्य है । प्रकृति में रहने वाला सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से मिश्रित रहता है, किन्तु नित्य विभूति में पाये जाने वाले सत्त्व गुण में रजोगुण एवम् तमोगुण का मिश्रण नहीं है । अतएव यह शुद्धसत्त्व है ।

नित्यविभूति का भोग्यत्व –

नित्यविभूति में ईश्वर, नित्य जीव तथा मुक्ति जीवों का निवास है । यह नित्य विभूति परमात्मा के संकल्प से उक्त तीनों भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान होती है । नित्यमुक्त जीवों के लिए श्रीभगवान् के श्रीविग्रह का दर्शन ही अत्यन्त भोग है । श्रीभगवान् का भी शेषादि नित्यमुक्त जीवों का शरीर भोग्य है । ईश्वर तथा मुक्तजीवों के शरीर तो भगवान् की इच्छा से ही तत् तत् प्रकार के हैं । छान्दोग्योपनिषद् मे बताया गया है कि मुक्तजीव आविर्भूत गुणाष्टक होते हैं । अतएव वे अपने संकल्प मात्र से ही समकाल में अनेक शरीरों को धारण कर लेते हैं तथा वे अपने अतीतकालिक पितृगणों को देखना चाहते हैं तो वे भी अपना शरीर धारण कर उपस्थित हो जाते हैं । भगवान् के व्यूह, विभव तथा अर्चावतार के जो शरीर होते हैं,वे भी दिव्य होते हैं ।[1]

---

1. सा विभूतिरीश्वरस्य नित्यानां मुक्तानां चेश्वरसङ्.कल्पाद् भोग्यभोगोपकरणस्थानरूपा च भवति । भोग्यानीश्वरशरीरादीनि । भोगोपकरणानि चन्दनकुसुमवस्त्रभूषणायुधादीनि भोगस्थानानि तु गोपुरप्राकारमण्डपविमानोद्यानपद्मिन्यादीनि । तत्रेश्वरस्य नित्यमुक्तानां च शरीराणि च भगवन्नित्येच्छासिद्धानि । मुक्तानां शरीराणि तेषां पित्रादि सृष्टिर्युगपदनेकशरीरपरिग्रह इत्यादीनि भगवत्संकल्पादेव भवन्ति । भगवतो व्यूह विभवार्चावतार शरीराण्यप्राकृतानि । यतीन्द्रमतदीपिका,पृष्ठ-106

अर्चावतारों की प्रतिष्ठा के पश्चात् प्रसादोन्मुख भगवान् के सत्य संकल्प से अप्राकृत शरीर आविर्भूत हो जाता है । यहाँ पर यह शंका नही करनी चाहिए कि प्राकृत वस्तुओं का दिव्य वस्तुओं से सम्बन्ध कैसे सम्भव है? जिस प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि के शरीर दिव्य थे उसी प्रकार अर्चावतारों के भी शरीर दिव्य हो जाते हैं । इस प्रमाण के अनुसार उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है ।

नित्यविभूति की दिव्यता –

मुक्तजीव भगवान् की प्रसन्नता के लिए शरीरों को धारण करते हैं । ईश्वर के शरीर के षाड्गुण्य का प्रकाशन शुद्ध सत्व करता है, अतएव नित्य विभूति को षाड्गुण्य भी कहा जाता है । शाश्वतिक, दोषरहित एवम् सीमातीत औज्ज्वल्य, सौंदर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्य, यौवन, मार्दव तथा आर्जव आदि श्रीभगवान् के विग्रह के दिव्यगुण हैं ।[1]

भगवान् का मंगल विग्रह सर्वदा उज्ज्वल रहता है । भगवान् के दिव्य मंगल विग्रह के औज्ज्वल्य का वर्णन करते हुए श्री यामुनाचार्य कहते हैं कि भगवान् का दिव्यमंगलविग्रह चमकते हुए किरीट, बाजूबन्द, हार, कंठा, कोस्तुभमणि, करधनी, नूपुरादि आभूषणों तथा चक्र, शंख, कृपाण, गदा, धनुष आदि आयुधों तथा तुलसी एवं वनमाला आदि से देदीप्यमान है ।[2]

---

1. नित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनमार्दवार्जवादयो दिव्यमंगलविग्रहगुणाः । यतीन्द्रमतदीपिका पृष्ठ 108

2. स्फुरत्किरीटाङ्गदाहारकण्ठिका मणीन्द्रकाञ्चीगुणनूपुरादिभिः ।
रथाङ्गशङ्खासिगदाधनुवरैर्लसत्तुलस्या वनमालयोज्ज्वलम् ।।
स्तोत्ररत्न, श्लोक संख्या – 36

भगवान् के दिव्यमंगलविग्रह का सौन्दर्य अत्यधिक प्रख्यात है । भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि 'भगवान् की आकृति नख से शिखा पर्यन्त मनोहर है।'[1] नेत्रों का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि 'भगवान् के नेत्र कमल सदृश्य मनोहर हैं'।[2] आचार्य रामानुज कप्यासश्रुति के अर्थ का वर्णन कहते हुए कहते हैं – 'श्रीभगवान् के गम्भीर जल मे उद्भूत पुष्ट नाल पर सूर्य की किरणों के द्वारा विकसित कमलदल के समान मनोग्य एवं विशाल नेत्र हैं'।[3]

यामुनाचार्य भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "श्रीभगवान् के नेत्र विकसित मनोहर कमल के समान हैं, भौहें अत्यन्त कमनीय, विद्रुम से भी अधिक देदीप्यमान ओष्ठ हैं । उनका मनोहर मुस्कान, कोमल गाल, उठी हुई नाक तथा ललाटपर्यन्त लटकते घुँघराले काले कुन्तल हैं"।[4]

---

1. आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः । छान्दोग्योपनिषद् 1/5/6

2. तस्यतथाकप्यांस पुण्डरीकमेवमक्षिणी । वही, 1/5/7

3. गम्भीराम्भस्समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरनिकरविकासितपुण्डरीकदलामलयतेक्षणः।
वेदार्थसंग्रह

4. प्रबुद्ध मुग्धाम्बुजचारूलोचनं
सविभ्रमभ्रूलतमुज्ज्वलाधरम् ।
शुचिस्मितं कोमलगण्डमुन्नसं
ललाटपर्यन्तविलम्बितालकम् ।।

स्तोत्ररत्न, श्लोक संख्या – 35

उपर्युक्त सभी गुण श्रीभगवान् के विग्रह में अपनी पूर्ण दिव्या के साथ सर्वदा रहते हैं । उक्त दिव्य मंगल विग्रह सब का आश्रय है, क्योंकि जीव भगवान् का कौस्तुभमणि है । प्रकृति श्रीवत्सचिह्न है । महत् गदा रूप है । सात्विक अंहकार शंख रूप है । तामस अहंकार साङ्.र्गस्वरूप है । ज्ञान कृपाण रूप है । अज्ञान उस कृपाण का आवरक है । मन चक्र रूप हे । ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ बाणस्वरूप हैं । सूक्ष्मभूत एवम् स्थूलभूत वनमाला स्वरूप हैं ।[1] इस प्रकार भगवान् की नित्य विभूति में सभी समाश्रित हैं ।

नित्यविभूति के चार रूप हैं – आमोद, प्रमोद, सम्मोद एवं वैकुण्ठ । ये क्रमशः भगवान् के चतुर्व्यूहों–संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और अहंकार– के दिव्य भवन हैं । इसके पश्चात् नित्य विभूति के भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान रूप से अनन्त प्रभेद हैं। नित्यविभूति के अनेक नाम हैं, जैसे – त्रिपाद्विभूति, पद्मपद, परमव्योम, परमाकाश, आहतलोक, नाकलोक, आनन्दलोक, वैकुण्ठलोक, अयोध्या आदि । भगवान् की दो विभूतियाँ हैं – नित्यविभूति या त्रिपाद्विभूति और लीलाविभूति । लीलाविभूति में सब जगत् हे, जबकि त्रिपाद्विभूति वैकुण्ठ लोक आदि को कहते हैं । लीलाविभूति की अपेक्षा त्रिपाद्विभूति तीन गुना बड़ी है । इसी कारण इसे त्रिपाद्विभूति कहते हैं । श्रुतियों मे भी इसका वर्णन है – 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अथार्त् भगवान् के ऐश्वर्य के

---

1. इत्थं पुमान् प्रधानं च बुद्ध्यहंकारमेव च ।
भूतानि च हृषीकेषे मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।।
विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत् समाश्रितम् ।
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपंरूपवर्जितः ।।
विभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः ।
सविकारं प्रधानं च पुमांसमखिलं जगत् ।

एकपाद में सम्पूर्ण जगत् है तथा इसका दिव्य तीन भाग वैकुण्ठ लोक में है । गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है कि उस विभूति को सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि प्रकाशित नही करते हैं ।[1] नित्यविभूति नित्य परमात्मा का लोक होने से अमृतलोक तथा दिव्यगुण सम्पन्न नित्यमुक्त जीवों का लोक होने से नाकलोक भी कहा जाता है । वैकुण्ठलोक उस नित्यविभूति का एक नगर है जो द्वादश आवरणों से युक्त है । उसमें अनेक गोपुर तथा प्राकार हैं । श्रीभगवान् इस नगर में नित्य विराजमान रहते हैं ।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रमेयों में अजड द्रव्य का निरूपण किया गया जिसमें जीव, ईश्वर, धर्मभूतज्ञान तथा ईश्वर की नित्यविभूति का यथासम्भव विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है । भगवान् के दिव्यगुणों का निरूपण करते हुए विशिष्टाद्वैत सम्मत सगुण ईश्वर की सप्रमाण व्याख्या भी की गयी है ।

* * * *
* *
*

---

1. न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

श्रीमद्भगवद्गीता – 15/6

****

पञ्चम अध्याय

अद्रव्य निरूपण

****

1. **त्रिगुण निरूपण**

   (क) सत्त्वगुण

   (ख) रजोगुण

   (ग) तमोगुण

2. **पञ्चशब्दादिविषय निरूपण**

   (क) शब्द

   (ख) स्पर्श

   (ग) रूप

   (घ) रस

   (ङ) गन्ध

3. **संयोग निरूपण**

4. **शक्ति निरूपण**

5. **विशिष्टाद्वैतसम्मत दशगुणों में अन्यगुणों का अन्तर्भाव**

<u>अद्रव्य–निरूपण –</u>

जो पदार्थ संयोग से रहित हो,[1] अर्थात् जिसमें किसी दूसरे का संयोग नहीं होता तथा जो दूसरे में संयुक्त नहीं होता, वह अद्रव्य है । इस तरह के अद्रव्य अनन्त हैं । प्रलयकाल में प्रतिक्षण सदृश अवस्थाओं की सन्तति होती रहती है तथा सृष्टिकाल में प्रतिक्षण उसमें विसदृश अवस्थाओं की सन्तति होती रहती है । इसी प्रकार काल में भी क्षणत्व, लवत्व और निमेषत्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त अवस्थाएँ होती हैं । बुद्धि में भी प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व और शब्दत्व आदि अवस्थाएँ होती रहती है । इसी प्रकार शुद्ध सत्त्व में भी अवस्थाएँ होती रहती हैं । ये सभी अवस्थाएँ अद्रव्य हैं । इनके प्रकारों और भेदों की गणना बिल्कुल असम्भव है । इन अवस्थारूपी अद्रव्यों की अनन्तता को दृष्टिगत करते हुए श्रीवरदविष्णु मिश्र ने कहा – 'गुणाश्चानन्ताः' अर्थात् गुण अनन्त होते हैं । इस प्रकार अवस्था रूप अद्रव्य अनन्त हैं इनमें परस्पर भेद भी अनन्त है । उन सभी भेदों का निरूपण अशक्य है । अतः स्फुट परिगणन करने योग्य जिन प्रसिद्ध अद्रव्यों का निरूपण किया गया है वे दस हैं :– सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग एवं शक्ति।[2]

<u>त्रिगुण–निरूपण</u>

<u>सत्त्वगुण –</u>

अद्रव्यों में सर्वप्रथम अद्रव्य सत्त्व को माना गया है । सत्त्व वह अद्रव्य है, जो प्रकाश, सुख एवं लाघव का कारण होता है । यह शक्ति से भिन्न होते हुए भी अतीन्द्रिय अद्रव्य है ।[3] सत्त्वगुण का प्रकाश, सुख एवं लाघव का निदान बतलाकर उसका रजोगुण व

---

1. संयोगरहितमद्रव्यम् । न्यायसिद्धाञ्जन – पृष्ठ 558

2. तानि सत्वरजस्तमांसि, शब्दादयः पञ्च, संयोगः, शक्तिरिति दशैव । वही, पृ0 558

3. तत्र प्रकाशसुखलाघवादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं सत्वम् ।
यतीन्द्रमतदीपिका – पृष्ठ 259

तमोगुण से भेद सूचित किया गया है । शब्दादि से उसकी भिन्नता बताने के लिये अतीन्द्रिय विशेषण दिया गया है । शक्ति तथा अतीन्द्रिय संयोग से उसकी भिन्नता बतालाने के लिए सत्त्व को शक्ति से अतिरिक्त बतलाया गया है ।

सत्त्व के भेद –

सत्त्व के दो भेद हैं – शुद्धसत्त्व एवं मिश्रसत्त्व । रजोगुण एवम् तमोगुण से रहित द्रव्य में रहने वाला सत्त्व शुद्धसत्त्व है वह नित्यविभूति में रहता है । औपचारिक रूप से यह नित्यविभूति के प्रवर्तक ईश्वर में भी पाया जाता है । मिश्रसत्त्व, रजोगुण एवं तमोगुण का सहवर्ती होता है । प्रकृति एवं प्राकृतिक पदार्थों में मिश्रसत्त्व पाया जाता है । यह सत्त्व प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले बद्ध जीवों में भी पाया जाता है । जीव का गुण सत्त्व नहीं है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण मिश्रसत्त्व का सांसारिक जीवों से सम्बन्ध है । अतएव जीव के साथ मिश्रसत्त्व का सम्बन्ध औपचारिक है ।

रजोगुण –

राग, तृष्णा, लोभ तथा प्रवृत्ति आदि का कारणभूत, अतीन्द्रिय तथा शक्ति से जो भिन्न अद्रव्य होता है, वह रजस् कहलाता है ।[1] उक्त लक्षण में प्रथम वृत्ति विशेषण का प्रयोग, तमोगुण तथा सत्त्वगुण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए किया गया है । अतीन्द्रिय विशेषण का प्रयोजन शब्दादि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ है । शक्त्याद्यतिरिक्तत्व विशेषण का प्रयोजन शक्ति तथा अतीन्द्रिय संयोग में लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ है ।

तमोगुण –

प्रमाद तथा मोह आदि का जो कारण हो, उक्त शक्ति आदि (संयोग) से अतिरिक्त

---

1. रागतृष्णालोभप्रवृत्यादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं रजः ।
यतीन्द्रमतदीपिका पृ0 260

अतीन्द्रिय अद्रव्य को तमस् कहते हैं।[1] यहाँ भी लक्षण के प्रथम विशेषण का प्रयोजन रजोगुण तथा सत्त्वगुण में लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण, द्वितीय अतीन्द्रिय विशेषण का प्रयोजन शब्दादि में अतिव्याप्ति का वारण तथा तृतीय शक्त्याद्यतिरिक्तत्व विशेषण का प्रयोजन संयोग एवं शक्ति में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए है ।

उपर्युक्त तीनों (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं । प्रकृति परतन्त्र पुरुष से ये सम्बद्ध रहते हैं तथा अनित्य हैं । इनका प्रलय काल में सदृश सन्तान उत्पन्न होता रहता है तथा सृष्टि आदि कालों में इनके विसदृश सन्तान होते हैं । ये सृष्टि, स्थिति एवम् प्रलय के लिए उपयोगी होते हैं ।

ये गुण ईश्वर के संकल्प आदि सहकारी कारणों को पाकर परस्पर अभिभूत करने वाले, बढ़ाने वाले तथा उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं, क्योंकि विभिन्न अदृष्टों से सम्पन्न, विभिन्न पुरुषों में किसी में किसी गुण का अविर्भाव तथा सम्यावस्था में अवस्था नहीं दिखती है । लोक में भी देखा जाता है कि एक सुन्दरी अपने पति को सुख देती है, अपने सपत्नीजनों (सौतों) को दुख देती है तथा अन्य कामुक पुरुषों में अज्ञान को उत्पन्न करती है । क्योंकि उस सुन्दरी को देखकर उसके पति में सत्त्वगुण उद्रिक्त होता है तथा रजोगुण एवं तमोगुण अभिभूति हो जाते है, सपत्नीजनों में रजोगुण उद्रिक्त हो जाता है तथा तमोगुण एवम् सत्त्वगुण अभिभूत हो जाते हैं । इसी प्रकार उस सुन्दरी को देख कर अन्य कामुकजनों में तमोगुण का उद्रेक होता है तथा उनके सत्त्वगुण तथा रजोगुण अभिभूत हो जाते हैं । किन्तु उस सुन्दरी को देखकर भी जितेन्द्रिय पुरुष में किसी भी प्रकार का भाव उत्पन्न नहीं होता है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं कि –

---

1. प्रमादमोहादिनिमित्तमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं तमः यतीन्द्रमतदीपिका पृ0 260

''वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखेर्ष्यागमाय च ।

कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तुवस्त्वात्मकं कुतः ।।''[1]

अर्थात् एक ही वस्तु विभिन्न पुरुष में दुख, सुख एवं ईर्ष्या के उत्पन्न होने का कारण बन जाती है । अतएव कैसे कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु दुःखात्मक, सुखात्मक अथवा मोहात्मक है । वे आगे कहते हैं –

''तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते ।

तदेव कोपाय च यतः प्रसादाय च जायते ।

तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ।।''[2]

अर्थात् यह भी देखा जाता है कि एक ही वस्तु किसी समय में सुख देती है और किसी समय में दुःख । उसी से कभी क्रोध होता है तो कभी प्रसन्नता होती है । अतएव न तो कोई वस्तु दुःखद् है और न तो सुखद् ।

गीता में भी उल्लिखित है कि सत्त्वगुण, सम्यक् ज्ञान रूप सुख का कारण है तथा मोक्षप्रद है । रजोगुण रागात्मक होता है तथा कर्मों में प्रवृत्त करके स्वाश्रय जीव में दुःखादि को उत्पन्न करता है । तमोगुण अज्ञान रूप आलस्य को उत्पन्न करता है तथा नरकप्रद होता है ।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्त्वादि गुण हैं, द्रव्य नहीं ।

श्रीभाष्य में भी आचार्य रामानुज कहते हैं कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् द्रव्य के धर्म हैं, स्वयं द्रव्य नहीं । सत्त्व इत्यादि गुण, पृथ्वी इत्यादि में होने वाले लघुत्व एवं

---

1. पराशरीय धर्मशास्त्र

2. वही,

3. भगवद्गीता – चौदहवाँ अध्याय ।

प्रकाश इत्यादि के कारण हैं तथा पृथ्वी इत्यादि के स्वाभाविक धर्म हैं । जिस प्रकार मृत्तिका एवम् सुवर्ण इत्यादि द्रव्य होकर कार्यभूत घटकुण्डलादि में अनुवर्तमान प्रतीत होते हैं उसी प्रकार सत्त्वादि गुण द्रव्य होकर कार्य में अनुवंतमान प्रतीत नहीं हाते, किञ्च सत्त्वादि के गुणत्व की ही प्रसिद्धि है ।[1]

पञ्चशब्दादिविषय

शब्द -

हम लोगों की श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जिसका ग्रहण होता है, वह शब्द (नामक अद्रव्य) है।[2] यह शब्द पाँच भूतों में रहता है, क्योंकि "शंख बजता है, भेरी बजती है, समुद्र गरजता है" इस प्रकार की प्रतीति सबको होती है ।

शब्द दो प्रकार का होता है – वर्णात्मक एवं अवर्णात्मक । इनमें वर्णात्मक वह शब्द है, जिसमें अ,क,च,ट,त,प,य आदि वर्णो का समुदाय पाया जाये । प्रत्येक वर्ण इन प्रकारों में किसी एक प्रकार से युक्त होता है । वर्णात्मक शब्दों मे पाये जाने वाले वर्णो की संख्या पचास है । वर्णो की संख्या के विषय में विवाद है, कुछ लोग तिरपन वर्ण मानते हैं, कुछ लोग बावन, कुछ उनचास एवम् कुछ पचास । वर्णो का रूप इस प्रकार है – अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ । इस प्रकार वर्णो की संख्या तिरपन होती है । कुछ लोग कहते है कि क्ष, त्र और ज्ञ ये तीन वर्ण स्वतंत्र नही हैं, अपितु

---

1. श्रीभाष्य 2/2/1

2. शब्दोऽस्मदादिश्रोत्रग्राह्यः पञ्चभूतवर्ती । न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0. 562

दो–दो वर्णों के मेल से बनते हैं । अतएव वर्णों की संख्या पचास हो जाती है । कुछ लोग लृ तथा लॄ को नही मानते, अवएव वर्णों की संख्या इक्यावन हो जाती है । कुछ लोग उपर्युक्त वर्णों में से केवल लॄ वर्ण को नही मानते हैं, अतएव वर्णो की संख्या बावन हो जाती है । किन्तु अन्ततः वर्णो की संख्या पचास मानी गयी है । वर्णात्मक शब्द देवता एवं मनुष्यों आदि के तालु आदि उच्चारण स्थानों से अभिव्यक्त होतें हैं ।

अवर्णात्मक शब्द वह है, जिसमें अ, क, च, ट, त, प एवं य इत्यादि सभी प्रकार के वर्णो के अभावों का समूह विद्यमान हो,[1] क्योंकि अवर्णात्मक शब्दों में इन प्रकारों में कोई भी प्रकार नहीं रहता । वह अवर्णात्मक शब्द वाद्य, मेघ, वायु और अवयवों के विभाग से अभिव्यक्त होता है ।

पूर्वोल्लिखित दोनों ही प्रकार के शब्दों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है ।[2] शब्द के श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व के विषय में दो प्रकार के मत हैं । प्रथम, वायु आदि से अभिव्यक्त होकर श्रोत्र प्रदेश में पहुँचा हुआ शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है । श्रोत्रेन्द्रिय शब्दस्थान में पहुँच कर शब्द का ग्रहण नहीं करती, क्योंकि वह बाहर जाती ही नहीं है । शब्द ही श्रोतेन्द्रिय प्रदेश तक आता है तब श्रोत्रेन्द्रिय उसका ग्रहण करती है । इस पक्ष के अनुसार शब्द आकाश में ही रहता है, इसी का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता हे । इस पक्ष में यह दोष है कि भेरी इत्यादि के अवयवों के शब्दगुण को लेकर श्रोत्र समीप में आना असम्भव है। अतः आकाशरूप शब्द का ही ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा हो सकता है ।

दूसरा मत यह है कि वाद्य इत्यादि में विद्यमान शब्द वहाँ रहते समय, वहाँ पहुँची

---

1. अकचटतपयादिसमस्तप्रकाराभावसमुदायवानवर्णात्मकः । न्यायसिद्धाञ्जन पृ0563
2. एवम्भूतश्शब्दः श्रोतेन्द्रियेण गृह्यते । यतीन्द्रमतदीपिका पृ0 263

हुई श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते हैं । इस पक्ष में पञ्चभूतों में विद्यमान होने पर भी शब्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है । दूरस्थ शब्द के ग्रहण में श्रोतेन्द्रिय का उस शब्द के सन्निकट पहुँचना कारण है । विशिष्टाद्वैतियों को दूसरे प्रकार का ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण अभिप्रेत है ।

विशिष्टाद्वैती शब्द को वाय्वादि व्यङ्.ग्य तथा अद्रव्य मानते हैं, किन्तु उनकी इस मान्यता का विरोध करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शब्द द्रव्य है तथा कार्य है ।[1] क्योंकि–

''यद् वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ।।''

अर्थात् यह श्रुति बताती है कि वेद के प्रारम्भ में जो प्रणवरूप स्वर कहा गया है, जो प्रणव वेदान्तों में प्रतिष्ठित है, वह वेद कारण प्रणव अपनी प्रकृति आकार में लीन हो जाता है । इस श्रुति से स्पष्ट है कि एक वर्ण दूसरे वर्ण का उपादान कारण होता है । शब्द को यदि अद्रव्य माना जाय तो वह उपादान कारण नहीं बन सकता है ।

किञ्च, 'आत्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ में यह कहा गया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, बल्कि वायु का धर्म है । शब्द, उच्चारण के अनन्तर उत्पन्न होता है । वायु आदि को शब्द का व्यञ्जक मानना दोषग्रस्त है । इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि शब्द को अद्रव्य तथा व्यङ्.ग्य मानना ठीक नहीं है ।

ध्यातव्य है कि उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए विशिष्टाद्वैतियों का कहना है

---

1. न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ 570

कि श्रीभाष्यकार ने जिन युक्तियों से सत्त्व, रजस् एवं तमस् को अद्रव्य सिद्ध किया है, उन्हीं युक्तियों से शब्द भी अद्रव्य सिद्ध हो जाता है । शब्द अद्रव्य तथा आगंतुक धर्म है । वह काल विशेष में उत्पन्न होने वाला धर्म है । आगन्तुक होने के कारण शब्द को परिणाम कहा गया है । आगन्तुकपरिणामत्व को दृष्टिपथ में रखकर शब्द परिणाम कहा जा सकता है । परिणाम कहने मात्र से शब्द का द्रव्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है । पराशर भट्ट ने वाक्य के निरूपण के प्रसंग में 'गगनगुण शब्दादि स्वरूपस्थिती' इत्यादि वाक्य से शब्द से आकाश का गुण कहा है । उक्त वचन का अर्थ है कि आकाश का गुण जो शब्द है, उसके स्वरूप एवं स्थिति को प्रवृत्त कराने वाले भगवान् ने शब्द प्रवाह के विषय में यही संकल्प कर रखा है कि प्रत्यक्ष से अबाधित अर्थों के प्रतिपादन में शब्दों की सामर्थ्य स्वाभाविक है । इस भगवत्संकल्प के अनुसार शब्द स्वभावतः सामर्थ्य से युक्त रहते हैं । शब्द अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता है । इस पंक्ति में पराशर भट्ट ने शब्द को स्पष्ट रूप से आकाश का गुण कहा है । किञ्च, 'तस्य प्रकृतिलीनस्य' श्रुति में आकार को प्रणव का उपादान कारण बतलाने का अभिप्राय यह है कि आकाराभिमानी देवता प्रणव का उपादान कारण है । इस प्रकार शब्द को अद्रव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।[1]

प्रश्न है कि दूरस्थ अद्रव्य शब्द का श्रवण कैसे होता है ? तो इस शंका का समाधान अनेक प्रकार से होता है – 1. जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय की वृत्ति दूर देश तक पहुँच कर दूरदेशस्थ शब्द का ग्रहण करती है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के वृत्ति दूरदेश तक पहुँच कर दूरदेशस्थ शब्द का ग्रहण करती है । 2. शब्दव्यञ्जक वायु श्रोत्रदेश तकचली आती है । उस व्यञ्जक वायु के सम्बन्ध से श्रोतेन्द्रिय दूरदेशस्थ शब्द का ग्रहण करती है। 3. अथवा, भेरी आदि के शब्दगुणविशिष्ट अवयव श्रोत्र तक आ जाते हैं।अतः दूरदेशोत्पन्न

---

1. अकारादेः प्रणवोत्पादकत्वं वाच्यद्वारा सम्भवतीति परिहारादद्रव्यत्वमुत्पद्यते ।
यतीन्द्रमतदीपिका पृष्ठ 264

शब्द श्रोत्र के समीप तक आ जाने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है । 4. अथवा, शब्दगुणयुक्त वायु ही श्रोत्रेन्द्रिय तक आ जाता है अतएव दूरस्थ शब्द का ग्रहण होता है । इन पक्षों में से कोई भी अभिप्रेत पक्ष स्वीकारा जा सकता है ।

स्पर्श –

जिनका ग्रहण हम लोगों की स्पर्शनेंद्रिय से होता है, उन पदार्थों से जो विसजातीय पदार्थ हैं, उनसे भिन्न जो अद्रव्य है, वह स्पर्श है ।[1] हम लोगों की त्वगिन्द्रिय से कई स्पर्श तथा उनके आश्रय द्रव्य ग्राह्य होतें हैं । शब्दादि उनसे विसजातीय हैं । उन शब्दादिकों से सभी स्पर्श तथा उनके आश्रय द्रव्य भिन्न हैं । ऐसा भिन्न बना हुआ अद्रव्य स्पर्श ही है ।

स्पर्श तीन प्रकार के होते हैं – शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श तथा इन दोनों से भिन्न अनुष्णाशीतस्पर्श । जल में शीतस्पर्श रहता है । तेज में उष्णस्पर्श रहता है तथा पृथ्वी और वायु में अनुष्णाशीतस्पर्श रहता है । जल का सम्बन्ध होने में पृथ्वी तथा वायु में शीतस्पर्श प्रतीत होता है । वस्तुतः वह शीतस्पर्श जल का होता है, वायु अथवा पृथ्वी का नहीं । इसी प्रकार तेज का सम्बन्ध होने पर पृथ्वी, जल एवं वायु उष्ण प्रतीत होते हैं । यह उष्ण स्पर्श भी तेज का ही धर्म है, क्योंकि तेज का ही सम्बन्ध होने पर ही पृथ्वी, जल एवं वायु उष्ण प्रतीत होते हैं अन्यथा नहीं । इस प्रकार जल और वायु में उष्णता का अनुभव होते समय वायु के स्वाभाविक अनुष्णाशीतस्पर्श एवं जल के स्वाभाविक शीतस्पर्श का जो अनुभव नहीं होता है, उसका कारण जल और वायु में तेज का अनुप्रवेश ही है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त में यह भी माना जाता है कि वायु तथा पृथ्वी न उष्ण हैं और न शीत, अपितु ये दोनों भूत अनुष्णाशीत हैं ।

---

1. अस्मदीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यविजातीयव्यावृत्ताद्रव्यं स्पर्शः । न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 586

स्पर्श के पुनः दो भेद स्वीकार किये जाते हैं – पाकज तथा अपाकज । विजातीय तेज संयोग रूप पाक से उत्पन्न होने वाले स्पर्श को पाकज स्पर्श कहते हैं । जो स्पर्श पाक से उत्पन्न नहीं होता है, उसे अपाकजस्पर्श कहते हैं । पृथ्वी में रहने वाला स्पर्श पाकज स्पर्श है और जल, तेज एवं वायु में रहने वाला स्पर्श अपाकजस्पर्श है । इनमें अमृत, गरल (विष), तूल, उपल, गौ, बाह्मण तथा चाण्डाल आदि का स्पर्श पाकज स्पर्श के अवान्तर भेद हैं ।

रूप –

हम लोगों की चक्षुरिन्द्रिय मात्र से जिनका ग्रहण होता है, उन पदार्थों से जो भिन्न पदार्थ होते हैं, उनसे भिन्न जो अद्रव्य है, वह रूप ही है ।[1] यद्यपि हम लोगों की चक्षुरिन्द्रिय से सभी रूपों का ग्रहण नहीं होता है, फिर भी उनसे कई रूपों का ग्रहण होता ही है । हम लोगों की चक्षुरिन्द्रिय मात्र से गृहीत होने वाले जितने भी रूप हैं उनसे भिन्न है रसादि, उन रसादि से भिन्न जितने भी अद्रव्य हैं, वे सभी अद्रव्य रूप हैं ।

रूप चार प्रकार के होते हैं – श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण ।[2] इन चारों रूपों के भी कई–कई अवान्तर भेद होते हैं । निदर्शनार्थ यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने इन चारों रूपों के कुछ अवान्तर भेदों का निर्देश किया है । कुछ लोग कहते हैं रूप तीन ही होते हैं – श्वेत, रक्त और पीत । पीत भी रक्त का ही अवान्तर भेद है । श्रुतियाँ इन तीन रूपों का ही वर्णन करती हैं । छान्दोग्यश्रुति पृथ्वी, जल एवं तेज- इन तीन भूतों का तीन ही रूप बतलाती हैं । किन्तु यतीन्द्रमतदीपिकाकार एवं न्यायसिद्धाञ्जनकार[3] ने उपर्युक्त चार रूपों को

---

1. अस्मदादिचक्षुरिन्द्रियैकग्राह्यविजातीयव्यावृत्तमद्रव्यं रूपम् । यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 268
2. तच्चतुर्धा सितरक्तपीतकृष्णभेदात् । वही, पृ0 286
3. तच्चसितरक्तकृष्णपीतभेदम् । न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ 592

ही माना है । प्रकारान्तर से रूप दो प्रकार का होता है – भास्वर तथा अभास्वर । भास्वर रूप चमकदार होता है जबकि अभास्वर रूप चमकदार नहीं होता । तेज में विद्यमान रूप भास्वर होता है, किन्तु पृथिवी और जल में रहने वाला तेज अभास्वर होता है । तेज में रक्त भास्वर रूप होता है । जल में अभास्वर शुक्ल रहता है तथा पृथिवी में अनेक प्रकार के अभास्वर रूप होते हैं । यद्यपि जल में अभास्वर शुक्ल रहता है किन्तु पृथ्वी के ही संसर्ग के कारण यमुना का जल नीला प्रतीत होता है । इस प्रकार से चार ही रूप होते हैं ।

किन्तु वैशेषिक आदि चित्र नामक पाँचवें रूप को स्वीकार करते हैं, जो असमीचीन है । जिस प्रकार वैशेषिक आदि को यह अर्थमान्य है कि पृथिवी पर बनायी गई रंगबल्ली में, जो अनेक रूपों की प्रतीत होती है, वह उस रंगबल्ली के अवयवों के नाना रूपों की ही प्रतीति है, उससे अतिरिक्त उसमें चित्र नामक रूप नहीं है, उसी प्रकार उन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि नाना वर्ण वाले तन्तुओं से निर्मित वस्त्र में भी उन तन्तुगत नाना रूपों की ही प्रतीति होती है, उनसे भिन्न कोई पट में नया चित्र नामक वर्ण उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार चित्र रूप के साथ–साथ चित्ररस तथा चित्रगन्ध को भी मानना असमीचीन है ।

रस –

हम लोगों की केवल जिह्वा से गृहीत जो पदार्थ, उससे विजातीय जो पदार्थ, उनसे भिन्न जो अद्रव्य हैं, वे रस हैं ।[1] यद्यपि लोक में जितने रस हे वे सब हमारी रसनेन्द्रिय से गृहीत नही होते हैं, फिरभी उनमें से बहुतों का ग्रहण हम लोगों की रसनेन्द्रिय से होता है। उन गृहीत होने वाले रसों से शब्दादि विसजातीय हैं । उनसे भिन्न जो अद्रव्य हैं वे सभी रस हैं ।

---

1. अस्मदादिजिह्वैकग्राह्यविसजातीयेतरो रसः । न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 594

रस छः प्रकार के होते हैं--मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय। इनमें इंख, दुग्ध, गुड़ आदि मधुर-रस के अवान्तर भेद हैं। आम, इमली, आंवला आदि के रस-विशेष अम्ल-रस के अवान्तर भेद हैं। नमक तथा ऊषर के विकार आदि के रस-विशेष लवण-रस के अवान्तर भेद हैं। किम्पाक अर्थात् विषवृक्ष तथा निम्ब आदि के रस विशेष तिक्त-रस के अवान्तर भेद हैं। सोंठ, मरीच, सरसों आदि के रस कटु-रस के अवान्तर भेद हैं। हरे, विभीतक तथा आम्रमंजरी के रस कषाय-रस के अवान्तर भेद हैं।

गन्ध :

जिन पदार्थों का ग्रहण केवल हमारी घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है, उन पदार्थों से विसजातीय जो पदार्थ, उनसे भिन्न जो अद्रव्य, वे सभी गंध हैं।[1]

गन्ध दो प्रकार का होता है– सुगन्ध और दुर्गन्ध। 'यह सुगन्ध है' इस प्रकार की प्रतीति और व्यवहार का जो विषय बनता है, उसे सुगन्ध कहते हैं तथा 'यह दुर्गन्ध है' इस प्रकार की प्रतीति और व्यवहार का जो विषय बनता है, उसे दुर्गन्ध कहते हैं। खस, कस्तूरी, कुंकुम और चम्पक आदि के रस सुगन्ध के अवान्तर भेद हैं। पूति (सड़े हुए मांस की दुर्गन्ध) और विस्रगन्ध दुर्गन्ध के अवान्तर भेद है। गन्ध केवल पृथिवी में रहता है। 'यह सुगन्धित जल है', 'यह सुगन्धित वायु है', इत्यादि प्रकार से जो वायु, जल आदि के सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित होने की जो प्रतीति होती है, उसका कारण है– उन वायुओं अथवा जलों से सुगन्धित अथावा दुर्गन्धित पार्थिव पदार्थ का संसर्ग हो जाता है। जिस प्रकार लौहपिण्ड का स्वभाव जलाने का नहीं होता है, किन्तु जब लौहपिण्ड का अग्नि से संसर्ग हो जाता है,

---

1. अस्मदादिघ्राणग्राह्यविजातीयेतरो गन्धः। यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 272.

तब वह लौहपिण्ड जलाने का कार्य करने लगता है तथा 'लौहपिण्ड जला रहा है' इस प्रकार का औपचारिक प्रयोग भी होने लगता है । इसी प्रकार 'सुगन्धित वायु चल रही है' इत्यादि औपचारिक प्रयोग हैं ।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है कि पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूतों के गुण विद्यमान रहते हैं। तब प्रश्न यह है कि गन्ध केवल पृथिवी में ही क्यों रहता है? इस समस्या का समाधान करते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि यद्यपि पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूत विद्यमान रहते हैं, फिर भी प्रधान रूप से पृथ्वी में ही गन्ध नामक गुण विद्यमान रहता है । रस, जल और पृथ्वी में रहता है। अतएव इस कथन से पञ्चीकरण प्रक्रिया का कोई भी विरोध नही होता है ।[1]

उपनिषद् मतावलम्बी मानते हैं कि उत्पन्न होते समय पृथ्वी का कृष्ण रूप ही था, इस अर्थ का प्रतिपादन 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' यह श्रुति करती है । आकाश में नील रूप की विद्यमानता का समर्थन करते हुए श्रीभाष्यकार ने कहा है कि पञ्चीकरण की प्रक्रिया के अनुसार आकाश में पृथ्वी का नील रूप मिश्रित हो गया है, अतएव आकाश में नील रूप की प्रतीति होती है । अतः सिद्ध होता है कि पृथिवी का नील रूप स्वभाविक है, पाकज नहीं है, क्योंकि पञ्चीकरण से पूर्व तेजस् तत्त्व कार्य करने में असमर्थ था । यहाँ पर नैयायिक एवं वैशेषिक यह प्रश्न उठाते हैं कि उत्पन्न होते समय सभी कार्य निर्धर्मक होते हैं । तदनन्तर क्षण में उनमें पाकजन्य रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है। अतएव यह कैसे कहा जा सकता है कि पृथ्वी उत्पत्ति काल में नीली थी, उसका नील रूप स्वाभाविक है, पाकज

---

1. पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्वभूतेषु सर्वगुणानां विद्यमानत्वेऽपि प्राधान्याभिप्रायेणोक्तामिति न विरोधः । यतीन्द्रमतदीपिका पृष्ठ 272

नही ? इसका उत्तर देते हुए विशिष्टाद्वैती कहते है कि जिस प्रकार उत्पन्न होते समय जल अभास्वर शुक्ल नामक गुण से शीतस्पर्श से युक्त रहता है, उसी प्रकार यह मानना चाहिए कि उत्पन्न होते समय पृथिवी नील रूप से युक्त होती है ।

अब प्रश्न यह है कि पाक के द्वारा द्रव्यों में जो पाकजन्य गुणान्तर की उत्पत्ति देखी जाती है वह पाक किसका होता है ? पीलु (परमाणु) का या पिठर (अवयवी) का अथवा आश्रय का ? नैयायिक तथा वैशेषिक पीलु एवं पिठर के पाक को लेकर विवाद करते है, किन्तु विशिष्टाद्वैत में इन दोनों मे से कोई भी पक्ष मान्य नहीं है । अतएव विचारणीय विषय है कि घटादि के अवयव जब संयुक्त रहते हैं तब उनमें पाक होता है अथवा जब वे अलग–अलग होतें हैं ? विचार करने पर दोनो पक्ष उत्पन्न होते हैं । अवयवों के संयुक्त रहने पर ही घटादि में पाक होता है, यह प्रथम पक्ष है । इस पक्ष की उपपत्ति यह है कि अशिथिल रहने वाले घटादि में पाक भेद होने के कारण रूपभेद दृष्टिगोचर होता है । वैशेषिक भी देखते हैं कि घट अशिथिल ही रहता है, किन्तु पाक के द्वारा उनमें रूप भेद हो जाता है । इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि जब घटादि के अवयव संयुक्त रहते है तभी उनमें पाक होता है ।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का उपपादन होता है तो फिर वैशेषिकों ने पाकज प्रक्रिया में यह क्यों माना है कि पाक में द्व्यणुक पर्यन्त अवयवियों का नाश होता है तथा परमाणुओं में पाक से रूपान्तर होने पर उन परमाणुओं द्वारा द्व्यणुक से लेकर महान् अवयवी पर्यन्त निर्माण होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वैशेषिकों ने ऐसे कई नियम मान रखे हैं जिससे उनको द्व्यणुक पूर्वावयवियों का नाश तथा पक्व परमाणुओं से नवीन द्व्यणुक से लेकर महान् अवयवी तक का निर्माण करना पड़ता है ।

अपि च, यह भी पक्ष उपपन्न होता है कि जब अवयव विभक्त रहते है तब उनके आश्रय में पाक होता है । इसके अनुसार मधु के छत्ते का पाक लोक में देखा जाता है । यह भी देखा जाता है कि अग्नि का संसर्ग होते ही मधु के छत्ते के अवयव विशीर्ण और विलीन होने लग जाते है। अतएव यथावसर अवयवों के संयुक्त रहने पर अथवा वियुक्त होने पर दोनों प्रकार का पाक स्वीकारा जा सकता हे ।

संयोग–निरूपण –

'ये पदार्थ संयुक्त है' इस प्रकार की प्रतीति जिसके कारण होती है, उसे संयोग कहते है ।[1] संयोग एक सामान्य गुण है तथा छः द्रव्यों मे पाया जाता है। संयोग का वृक्षादि एक ही देश में जो अभाव भी उपलब्ध होता है, वह एक ही वस्तु के अंश की भिन्नता के कारण होता है । अतएव उसमें कोई भी विरोध नहीं है ।

संयोग दो प्रकार का होता है – कार्य संयोग और अकार्य संयोग ।[2] कार्यसंयोग सीमित वस्तुओं में होता है तथा दोनों के प्रेरित होने पर होता है । यथा दो मेषों अथवा दो मल्लों का संयोग ।[3] कहीं पर दोनों में से एक के भी प्रेरित होने से होता है । यथा- श्येन पक्षी तथा ठूँठे वृक्ष का संयोग । वैशेषिक दार्शनिक संयोगजन्य संयोग को भी स्वीकार करते हैं । यथा- हस्तपुस्तक–संयोग से उत्पन्न कार्य (शरीर) पुस्तक का संयोग । किन्तु यह संयोग नही माना जा सकता है, क्योंकि हस्त पुस्तक संयोग से ही संयोग उपपन्न होता है ।

---

1. संयुक्तप्रत्ययनिमित्तं संयोगः । न्यायसिद्धाञ्जन पृष्ठ 601
2. स चायं संयोगो द्विधा–कार्योऽकार्यश्चेति । वही, ।
3. कार्यसंयोगः परिमितानामुभयप्रेरणात्, यथा मेषयोर्मल्लयोर्वा । यतीन्द्रमतदीपिका पृष्ठ 274

अतएव विभागजन्य विभाग की भी उपपत्ति नहीं हो सकती है। विभाग भी संयोग का अभाव रूप होने के कारण अतिरिक्त गुण नहीं हो सकता है ।

दो विभु द्रव्यों में होने वाला संयोग अकार्य संयोग है ।[1] दूसरे शब्दों में, अकार्य संयोग उन दो वस्तुओं में होता है जो निश्चल रहते हुए अन्तराल रहित होते हैं । नित्य द्रव्यों के संयोग का प्रतिपादन श्रुति भी करती हैं । ईश्वर तथा काल इत्यादि विभु द्रव्य निश्चल हैं । इनमें क्रिया नही होती है । ये सभी मूर्त द्रव्यों से संयुक्त होकर ही रहते हैं । दोनों विभु द्रव्यों के बीच में कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है, जो उनसे संयुक्त न हो । अतएव वे अन्तराल रहित हैं । अन्तरालरहित वही होता है, जो उनसे असंयुक्त रहता है । दोनों विभु द्रव्यों में क्रिया न होने के कारण इनका संयोग अकार्य संयोग है, कार्य नहीं । वैशेषिक अकार्य संयोग को नहीं मानते हैं, किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान के द्वारा भी नित्य द्रव्यों की सिद्धि होती है । उदाहरणार्थ –

1. दो विभु द्रव्यों में संयोग होता है, क्योंकि वे अन्तराल शून्य होकर रहते हैं । जैसे अन्तराल शून्य होकर रहने वाले दो मनुष्यों में संयोग देखा जाता है । यदि दोनों विभु द्रव्य संयुक्त नहीं होते तो उनमें अन्तराल अवश्य रहता, किन्तु उनमें अन्तराल नहीं होता है; इससे सिद्ध होता है कि उनमें संयोग होता है ।

2. किञ्च, विभु द्रव्य ईश्वर से संयुक्त होकर रहता है, क्योंकि वह द्रव्य हैं । जितने द्रव्य हैं वे सब घट के समान ईश्वर से संयुक्त होकर रहते हैं ।

3. विभु द्रव्य ईश्वर, काल आदि से संयुक्त होकर रहता है, क्योंकि वह द्रव्य है । जितने भी द्रव्य हैं, वे घट के समान काल से संयुक्त होकर ही रहते हैं ।

---

1. अकार्यसंयोगस्तु विभुद्रव्ययोः । यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ 275

अपि च, श्रुतियाँ भी विभु द्रव्य ईश्वर के स्वेतर समस्त वस्तुओं से संयुक्त होकर रहने का प्रतिपादन करती हैं । 'सर्वव्यापी च भगवान्' अर्थात् परमात्मा सर्वव्यापक हैं । इससे ईश्वर की सभी वस्तुओं से संयुक्त होकर रहने की सिद्धि होती है । 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इत्यादि श्रुति बतलाती है कि भगवान् नारायण संसार की सभी वस्तुओं के बाहर–भीतर व्याप्त होकर रहते हैं । यह श्रुति भी परमात्मा का सभी वस्तुओं से संयोग बतलाती है ।

<u>शक्ति–निरूपण</u> –

सभी कारणों के कारणत्व का निर्वाहक कोई अद्रव्य–विशेष ही 'शक्ति' है ।[1] कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होने से कारण बनता हे और शक्ति उसके कारणत्व का निर्वाह करती है । उस शक्ति की सिद्धि तर्क एवम् शास्त्र से होती है । शक्ति की सिद्धि में यह तर्क है कि स्वरूप एवं सहकारी कारणों के रहने पर भी अग्निप्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के रहने पर जलाने का कार्य नहीं करती है । उसका कारण यह है कि अग्नि के जलाने की शक्ति उस मणि के द्वारा अवरूद्ध हो जाती है और उस मणि के हटा देने के बाद अग्नि जलाने का कार्य करने लगती है । जिसके उपरूद्ध हो जाने के कारण अग्नि नहीं जलाती है तथा जिसके द्वारा अग्नि जलाने का कार्य करती है, वह शक्ति नामक अद्रव्य है । यह शक्ति अतीन्द्रिय है, उसका साक्षात्कार नही किया जा सकता है । किन्तु अग्नि में जलाने की शक्ति जल में आर्द्र करने की शक्ति का अनुमान किया जा सकता है ।

महर्षि पराशर भी कहते हैं – 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मण एतास्तु सर्गाद्याभावशक्तयः । भवन्ति तपसां श्रेष्ठपावकस्य यथोष्णताः ।' अर्थात् हे तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेय जी । सभी वस्तुओं में रहने वाली शक्तियाँ जो अचिन्त्य ज्ञान का

---

1. सर्वकारणानां कारणत्वनिर्वाहकः कश्चिदद्रव्यविशेषः शक्तिः । यतीन्द्रमतदीपिका,पृ0 277

विषय बनती हैं, वे उसी ज्ञान से सिद्ध होती हैं । अतएव परब्रह्म में भी ऐसी स्वाभाविक शक्तियाँ विद्यमान हैं जो सृष्टि इत्यादि के अनुकूल हैं । जिस प्रकार अग्नि की उष्णता प्रमाणसिद्ध है, उसी प्रकार परब्रह्म की शक्तियाँ भी प्रमाण सिद्ध हैं । पदार्थों के प्रमाणसिद्ध स्वभाव का किसी भी प्रकार अपलाप नहीं किया जा सकता है ।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी कहा गया है कि – 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक् स्थिताः' अर्थात् सभी पदार्थों में शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वे अचिन्त्य तथा अपृथक् सिद्ध हैं । अयस्कान्तमणि की भी शक्ति प्रसिद्ध है कि वह लोहे का आकर्षण करने का कार्य करती है । अतएव अयस्कान्त आदि में शक्ति की विषद् रूप से प्रतीतिं होती है । शक्ति छहों द्रव्यों में रहती है । ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जिसमें शक्ति न हो । विष्णु पुराण के 'शक्तयः सर्वभावानाम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा बतलाया गया है कि श्रीभगवान् में जगत् की सृष्टि आदि करने की शक्ति विद्यमान है तथा वह प्रमाण सिद्ध है । 'पराऽस्य शक्तिर्विधैव श्रूयते' श्रुति कहती है कि श्रीभगवान् में अनेक प्रकार पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं । यह श्रुति भी परमात्मा की शक्ति का वर्णन करती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी वस्तुओं में शक्ति नाम धर्म रहता है ।

विशिष्टाद्वैत सम्मत् दसगुणों में अन्य गुणों का अन्तर्भाव –

वैशेषिक दर्शन में 24 गुण बतलाये गये हैं – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार । किन्तु विशिष्टाद्वैती 10 प्रकार के ही गुण कैसे मानते हैं ? इसके उत्तर में विशिष्टाद्वैती कहते है कि जीवात्मा के गुण विशेष बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न – ये छहों ज्ञान के विस्तृत रूप

हैं.अतएव उनका ज्ञान में अन्तर्भाव होता है । धर्म एवम् अधर्म भी ईश्वर की प्रसन्नता और अप्रसन्नता रूप है, अतएव उनका ईश्वर के ज्ञान में अन्तर्भाव होता है । भावना नामक संस्कार भी ज्ञान विशेष रूप है । वेग को उत्पन्न करने का जो कारण है, उसे ही वेग नामक संस्कार कहते हैं । संयोग को ही लेकर स्थित स्थापक भी होता हे । विशिष्टाद्वेती प्रत्यक्षसिद्ध – शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवम् गन्ध को स्वीकार करते ही हैं! विभाग और पृथक्त्व संयोगाभाव रूप हैं । परत्व और अपरत्व की सिद्धि देश और काल को लेकर होती है । संख्या, परिमाण, द्रव्यत्व और स्नेह तत्–तत् द्रव्य स्वरूप हैं । गुरुत्व का शक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है । अतः विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार दस ही गुणों को मानना समीचीन है ।

उन दशों गुणों में सत्त्व, रजस् एवं तमस् प्रकृति के तथा प्रकृतिसम्बन्धी जीवों के गुण है । सत्त्व रूप ज्ञान तथा सात्विक काल की प्रतीति औपाधिक होने के कारण औपचारिक है । शब्द इत्यादि पाँच गुण प्रकृति के कार्यभूत पञ्चमहाभूतों के गुण रूप से प्रसिद्ध हैं । शुद्धसत्त्व त्रिपाद्विभूति में तथा त्रिपाद्विभूति के प्रवंतक ईश्वर में रहता है । संयोग और शक्ति ये दोनों गुण छहों द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं ।अतः इस प्रकार अद्रव्य का निरूपण सम्पन्न हुआ ।

* * * *
* *
*

****

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

****

इस प्रकार प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में यथोपलब्ध सामग्री के आधार पर "विशिष्टाद्वैत वेदान्त में प्रमेय–मीमांसा" विषय की विशद विवेचना प्रस्तुत की गयी है । इसके अन्तर्गत मैनें विशिष्टाद्वैत वेदान्त का उद्भव एवम् विकास, उसकी प्रमाण व्यवस्था तथा विशिष्टाद्वैत सम्मत प्रमेयों – पदार्थो का विधिवत् निरूपण करने का प्रयास किया है ।

उक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त का प्रमेय अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों से न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षत. प्रभावित हुआ है । उदाहरणार्थ विशिष्टाद्वैत वेदान्त में परमाणुवाद का खण्डन करके प्राकृतिक सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है । अतः यहाँ पर पञ्च महाभूतों और मनस् के पृथक् प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रहती । वैशेषिक दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव-भेद से प्रमेयों के सात प्रकार मानता है,जबकि विशिष्टाद्वैत द्रव्य और अद्रव्य-के भेद से दो प्रकार के प्रमेयों को मान्यता देता है । कुमारिल भट्ट पाँच प्रकार के ही प्रमेयों को मानते हैं। वे विशेष और समवाय को स्वीकार नहीं करते । प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और समवाय के अतिरिक्त शक्ति, सादृश्य और सङ्ख्या का भी प्रमेय में परिगणन करते हैं । वे वैशेषिक सम्मत विशेष और अभाव की सत्ता स्वीकार नहीं करते । मध्वाचार्य के मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त विशिष्ट और अंशी ये दो नये पदार्थ माने गये हैं । न्यायसिद्धाञ्जन में आचार्य वेदान्तदेशिक ने 'वैशिष्ट्य' को स्वीकार किया है । वह माध्वमत

सम्मत 'विशिष्ट पदार्थ' से अभिन्न प्रतीत होता है । वैशेषिक के समान प्रभाकर भी नौ द्रव्य मानते हैं, किन्तु कुमारिल 'शब्द' और 'तमस्' का भी द्रव्य में परिगणन करते हैं । माध्वमत में द्रव्यों की संख्या बीस है । प्रायः इन सभी विषयों पर वेदान्तदेशिक ने बड़े उहापोह के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं । विशिष्टाद्वैत दर्शन के नित्य विभूति तथा धर्मभूत ज्ञान ये दो शब्द अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के लिए प्रायः अपरिचित से हैं, यद्यपि धर्मभूत ज्ञान दूसरे रूप में प्रत्येक दर्शन में प्रतिष्ठित है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों विशेषकर वेदान्तदेशिक ने तमस् को पार्थिव द्रव्य माना है । कुमारिल भट्ट भी तमस् को पृथक द्रव्य स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि तमस् रूपवान् और स्पर्शहीन है । केवल चक्षु से ही यह गृहीत होता है और आलोक के न रहने पर ही यह प्रकाशित होता है । वैशेषिक तमस् को आलोक का अभाव मात्र मानते हैं किन्तु प्रभाकर कहते हैं कि तम नाम का कोई द्रव्य नहीं है । इनके मत में नील पदार्थों में विद्यमान नील रूप के विषय में होने वाली अपूर्ण स्मृति ही तम अर्थात् अन्धकार के व्यवहार का कारण है। भाट्ट मतानुयायी मानरत्नावलीकार भी तमस् के पृथिवी का गुण मानते हैं । भट्ट पराशर ने मूल प्रकृति को ही तम माना है । भट्ट पराशर का असली अभिप्राय क्या है? यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका पूरा ग्रन्थ अनुपलब्ध है । जितना ग्रन्थ उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तम पार्थिव द्रव्य होने के साथ ही प्राकृत द्रव्य भी है, क्योंकि विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी हैं । षडर्थ-संक्षेपकार राममिश्र का कहना है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है । यदि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य होता तो नेत्रों के बन्द कर लेने पर इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष न होने पर, उसका भान नहीं होना चाहिए । परन्तु आँख बन्द कर लेने पर भी अन्धकार का अनुभव सब को होता है । इससे ज्ञात होता है कि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य नहीं हे । विशिष्टाद्वैती

आचार्य वेदान्तदेशिक ने इस मत का प्रबल खण्डन करके आगम प्रामाण्य के बल से तमस् के द्रव्यत्व को सिद्ध किया है ।

प्राय: सभी दार्शनिक शब्द को दो प्रकार का स्वीकार करते हैं – वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक । भाट्ट मीमांसक वर्णात्मक शब्द को नित्य एवम् द्रव्य मानते हैं । प्रभाकर शब्द को गुण मानते हुए भी द्रव्य मानते हैं । वैय्याकरण शब्द को स्फोटरूप मानते हुए उसे नित्य मानते हैं, किन्तु नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानते हुए भी उसे अनित्य स्वीकार करते हैं । शब्द के विषय में विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों में मतैक्य का अभाव है । कुछ ने शब्द को द्रव्य माना है तो कुछ ने अद्रव्य । शब्द को द्रव्य मानने वालों में कुछ ने उसे वायवीय माना है तथा कुछ ने अवायवीय । यामुनाचार्य वायवीय मत के पोषक हैं । श्रीभाष्य कार आचार्य रामानुज ने शब्द को अहङ्कार का परिणाम माना है । इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन शब्द के विषय में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाता प्रतीत होता है ।

प्रभाकर 'शक्ति' को पृथक पदार्थ मानते हैं । कुमारिल शक्ति को तो मानते हैं, किन्तु इसे पृथक पदार्थ न मान कर द्रव्य गुण और कर्म में इसकी सत्ता मानते हैं । वे अर्थापत्ति से इसे सिद्ध करते हैं । प्रभाकर इसे अनुमित करते हैं । विशिष्टाद्वैत दर्शन में भी तर्क और आगम के आधार पर शक्ति की सत्ता स्थापित की गई है । शाक्त आगम का प्रतिपाद्य तो चरम तत्त्व शक्ति ही है, वैष्णव और शैव आगमों मे भी शक्ति का अस्तित्व तो अपरिहार्य माना गया है । विशिष्टाद्वैती आचार्य इसको द्रव्य न मानकर अद्रव्य अर्थात् गुण मानते हैं और इसके लिए विष्णुपुराण, अहिर्बुध्न्य - संहिता आदि के वचनों को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं । यह द्रव्य में रहती है या अद्रव्य में, इस विषय में मतैक्य नहीं है । यामुनमुनि ने 'सिद्धित्रय' में इसकी व्याख्या की है । वरदविष्णु द्रव्य के अतिरिक्त गुण और कर्म में भी शक्ति की सत्ता स्वीकर करते हैं ।

वैशेषिक तथा कौमारिल दार्शनिकों की तरह विशिष्टाद्वैती भी संख्या को पृथक् पदार्थ न मान कर उसे गुण ही मानते हैं.अन्तर केवल इतना है कि वैशेषिक मात्र द्रव्य में इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं तो कौमारिल और विशिष्टाद्वैती द्रव्य, गुण आदि सभी पदार्थों में इसकी सत्ता मानते हैं । यामुनाचार्य संख्या को पृथक गुण मानते हैं । इस सम्बन्ध में वे वैशेषिकों से प्रभावित है । वरदविष्णु भी यामुनमुनि का अनुसरण करते हैं । भट्टपराशर के तत्त्वरत्नाकर का प्रमेय–निरूपण उपलब्ध नहीं है, किन्तु एक जगह उन्होंने भी संख्या के गुणत्व की चर्चा की है ।

विशिष्टाद्वैत में साड्.ख्य दर्शन की तरह त्रिगुण की साम्यावस्था को प्रकृति माना गया है.किन्तु उसके अव्यक्त, अक्षर, विभक्त तम और अविभक्त तम – ये चार भेद किये गये है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त का साड्.ख्य से भेद मात्र इतना है कि साड्.ख्य में तामस अहड्.कार से सभी तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गयी है,जबकि विशिष्टाद्वैत में केवल शब्द तन्मात्रा की । साड्.ख्य सम्मत इन्द्रिय लक्षण में अप्राकृत इन्द्रियों को समावेश नहीं हो सकता, इसलिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त में इन्द्रियों का लक्षण साड्.ख्य से विलक्षण है । इन्द्रियाँ प्राकृत और अप्राकृत भेद से दो प्रकार की हैं । मन को साड्.ख्य दर्शन में-कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय-उभयात्मक माना गया है, जबकि विशिष्टाद्वैत दर्शन में वह केवल ज्ञानेन्द्रिय है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में आत्मा को नित्य, स्वयं प्रकाश, अणुरूप एवम् अनेक माना गया है । साड्.ख्य, न्यायवैशेषिक, जैन तथा मीमांसा दर्शन भी आत्मा की अनेकता स्वीकार करते हैं किन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय में इनमें मतैक्य नहीं है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त चार्वाकों के देहेन्द्रियात्मवाद, न्यायवैशेषिकों की आत्मा के मानसप्रत्यक्षवाद, बौद्धों व अद्वैतियों के ज्ञानात्मवाद का प्रबल खण्डन करता है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त में जीवात्मा के नानात्व

तथा स्वचैतन्यत्व को सिद्ध किया गया है । जैन दर्शन में भी जीव को चैतन्य लक्षण माना गया है तथा अनेकान्त वाद के द्वारा जीव के नानात्व को भी मान्यता दी गयी है । साङ्ख्य दर्शन में भी पुरुष (जीवात्मा) के चेतनत्व और बहुत्व को सिद्ध किया गया है । इसी प्रकार न्याय और मीमांसा दर्शन भी जीवात्मा की अनेकता स्वीकार करते हैं ।

'ईश्वर' की विशिष्टाद्वैत दर्शन में वही मान्यता है,जो अद्वैत वेदान्त में **'ब्रह्म'** की है। यह जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । न्यायवैशेषिक में ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण माना गया है और उसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया गया है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त में केवल यामुनाचार्य ने ईश्वर को अनुमित किया है, अन्य किसी भी वेदान्त दार्शनिक ने ईश्वर को अनुमित नहीं किया है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त **'सृष्टि–प्रक्रिया'** की दृष्टि से साङ्ख्य योग तथा जैन दर्शनों से काफी साम्य रखता है । साङ्ख्य दर्शन प्रकृति-परिणामवाद को मानता है तो विशिष्टाद्वैत ब्रह्मपरिणामवाद को । अद्वैतवेदान्त से इस बात में इसका भेद है,क्योंकि अद्वैतवेदान्त में जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना गया है तथा ब्रह्मविवर्तवाद की प्रतिष्ठा की गई है ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के **'धर्मभूतज्ञान'** को अन्य दर्शनों में 'ज्ञान' इस अपरनाम से अभिहित किया गया है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त समस्त ज्ञान को सत् मानता है, अतः इसे सत्ख्यातिवादी कहा जाता है । प्राचीन साङ्ख्य दर्शन तथा प्रभाकर मिश्र भी इसी मत को मान्यता देते हैं । विशिष्टाद्वैत वेदान्त 'भ्रम' को भी ज्ञान की श्रेणी में रखता है,किन्तु उसे आंशिक ज्ञान ही मानता है । प्रभाकर भी अपने अख्याति सिद्धान्त में भ्रम को आंशिक ज्ञान स्वीकार करते हैं,किन्तु दोनों में किञ्चित् भेद है । रामानुज भ्रम काल में जहाँ 'शुक्ति में

रजत' का 'आंशिक प्रत्यक्ष' मानते हैं, वहीं प्रभाकर आंशिक प्रत्यक्ष न मान कर शुक्ति में रजत का 'स्मरण' मानते हैं ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव की मोक्षावस्था में उसका शेष रूपी पर्यङ्‌क पर आरोहण तथा स्वरूपाविर्भाव होता है । वैकुण्ठलोक में पहुँचने पर जीव में ईश्वर के समान अपहतपाप्मत्व और सत्यसङ्‌कल्पत्व आदि आठ गुण सम्पन्न होते हैं । सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य दशा में यहाँ पर सायुज्य को ही मोक्ष माना गया है । यह मत जैन दर्शन से अधिक साम्य रखता है, क्योंकि जैन मत में भी यह मान्यता है कि देहपात के बाद मुक्तजीव ऊपर उठने लगता और 'लोकाकाश' के ऊपर 'सिद्धशिला' नामक पवित्र स्थल पर आत्मस्वरूप में स्थित होकर 'अनन्तचतुष्टय' का अनुभव करता है ।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में जहाँ अन्य दार्शनिक जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों को मानते हैं, विशिष्टाद्वैत केवल विदेहमुक्ति को मान्यता देता है । यह भारतीय दर्शन को विशिष्टाद्वैत की अद्वितीय देन है । रामानुज जीवन्मुक्तिवादियों, विशेषकर शङ्‌कर की कटु आलोचना करते हैं । उनके अनुसार यदि शङ्‌कर द्वारा मान्य शरीर से विशिष्ट ही मुक्ति 'जीवन्मुक्ति' मानी जाय तो यह मान्यता निश्चय ही 'मेरी माता बन्ध्या है' के सदृश अप्रमाण एवम् असङ्‌गत होगी । आत्मा के शरीरी होने पर उसका मुक्ति से वैशिष्ट्य और मुक्ति से विशिष्ट होने पर उसका शरीर से वैशिष्ट्य परस्पर विरोधी बातें हैं । एकही काल में परस्पर विरुद्ध धर्मों को आश्रयण सम्भव नहीं है । वे शङ्‌कर सम्मत अद्वैत में वदतोव्याघात दिखाते हैं कि शङ्‌कर भी मोक्ष को अशरीरी मानते हैं (तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्, ब्रह्मसूत्र शाङ्‌करभाष्य) और आत्मा को शरीरी मानते हैं । जबकि शरीरी आत्मा का मोक्ष अशरीरी कैसे हो सकता है ? इस प्रकार रामानुज ने विदेह मुक्ति की जो व्याख्या की है, वह अद्वितीय है ।

वस्तुतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विकास भारतीय चिन्तन परम्परा की एक युगान्तकारी घटना कही जा सकती है । आचार्य रामनुज इस दर्शन के प्रमुख पुरोधा हुए हैं। उस समय तक बौद्ध और जैन धर्म अपनी लोकप्रियता खो चुके थे । कुमारिल भट्ट और शड्.कर के नेतृत्व में सनातन धर्म अपनी खोई हुयी लोकप्रियता को पुनः अर्जित करने के निमित्त सड्.घर्षरत था । विशृड्.खलित भारतीय समाज में बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण जातीय बन्धन के कठोर प्रतिबन्ध भरसक प्रयत्न के पश्चात् भी शिथिल होते जा रहे थे । समाज में मीमांसकों के जटिल कर्मकाण्ड और शाड्.कर वेदान्त के कोरे ज्ञानवाद के प्रति लोगों में कोई रुचि नहीं रह गयी थी । फलतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त ऐसी परिस्थितियों में प्रासड्.िगक हो गया था । अपने पदार्थों की विशद व्यावहारिक व्याख्या करके विशिष्टाद्वैत वेदान्त ने एक नयी समन्वयवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया तथा विभिन्न दर्शनों को प्रमेय सिद्धान्तों मे समन्वय स्थापित करके उसे अधिक बुद्धिसड्.गत एवम् व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया । आगे चल कर विशिष्टाद्वैत वेदान्त के इन व्यावहारिक सिद्धान्तों का प्रभाव अन्य चिन्तन पद्धतियों पर पड़े बिना नहीं रहा ।

अद्वैत वेदान्त वैसे तो विशुद्ध ज्ञानमार्गी है, किन्तु शड्.कराचार्य जैसे अद्वैती आचार्य भी विशिष्टाद्वैत सम्मत 'भक्ति' की आवश्यकता स्वीकार करते हैं । अद्वैती 'मधुसूदन सरस्वती' ने तो 'भक्तिरसायन' नामक शास्त्र का प्रणयन भक्ति के मण्डनार्थ लिख डाला । इसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि वैष्णव सम्प्रदायों पर विशिष्टाद्वैत वेदान्त का भरपूर प्रभाव पड़ा । रामानुज वेदान्त का प्रभाव तो इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी लाखों लोग विशिष्टाद्वैत प्रतिपादित भक्तिमार्ग के द्वारा जीवन के परमश्रेय की प्राप्ति हेतु प्रयासरत हैं ।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों को अपनी मौलिक चिन्तन परम्परा से न्यूनाधिक रूप में अवश्य प्रभावित किया है । यह इसकी मौलिकता का ही प्रमाण है कि यह चिरन्तन चिन्तन प्रणाली अद्यावधि अविचल स्थित है । विशिष्टाद्वैती दार्शनिकों ने अपने व्यावहारिक सिद्धान्तों के द्वारा धर्म और दर्शन के बीच उत्पन्न खाई को पाटने का अभूतपूर्व कार्य किया है, इसमें सन्देह नहीं है । अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण ही भारतीय जनमानस में विशिष्टाद्वैत वेदान्त आज भी समादृत है । यह न केवल बुद्धि को प्रभावित करता है, अपितु हृदय को भी उतना ही तोष प्रदान करता है । निश्चय ही समाज इसके लिए विशिष्टाद्वैत का चिरऋणी रहेगा ।

* * * *
* *
*

****

अधीतग्रन्थमाला

****

1. *Religion and Philosophy of Ved .*
   -Keith, Harward, Oriental Series.

2. *Early History of the Vaishnava Sect.*
   -H.C. Rai Choudhary, Calcullta University, Calcutta.

3. *A Critical Study of the Philosophy of Ramanuj*
   -Dr. Anima Sen Gupta.

4. *Outline of Indian Philosophy.*
   Dr. M. Hariyanna, London.

5. *Vaishanavism, Shaivism and Minor Sects,*
   -R.G. Bhandarkar, Poona.

6. *Life of Ramanujacharya.*
   -A Govindacharya, Madras.

7. *Indian Philosophy, Vol.1-2,*
   Dr. S. Radhakrishnan.

8. अद्वैतसिद्धि, मधुसूदन सरस्वती, निणर्य सागर प्रेस, बम्बई ।

9. अहिर्बुध्न्य संहिता, अड्यार लाईब्रेरी, मद्रास ।

10. यतीन्द्रमतदीपिका, श्रीनिवासाचार्य, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी ।

11. ईशावास्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

12. ऋग्वेद संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

13. ऐतरेयब्राह्मण, वेड्.कटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

14. ऐतरेयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

15. कठोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

16. केनोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

17. माण्डूक्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

18. मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

19. छान्दोग्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

20. गद्यत्रयम्, आचार्य रामानुज, सोमानी ट्रस्ट, बम्बई ।

21. गीतार्थसङ्.ग्रह, आचार्य यामुन, तिरूमलाइ वेङ्.कटेश प्रेस, देवस्थान प्रेस, तिरूपति ।

22. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

23. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

24. तत्त्ववैशारदी, वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा, वाराणसी ।

25. न्यायदर्शन (वात्स्यायनभाष्य), चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

26. न्यायसिद्धाञ्जन, वेदान्तदेशिक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

27. योगसूत्रभाष्य, संवित् प्रकाशन, मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद ।

28. प्रश्नोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

29. ब्रह्मसूत्रशाङ्.करभाष्य, सत्यानन्दसरस्वती, गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी ।

30. ब्रह्मसूत्रशाङ्.करभाष्य–भामती–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

31. ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्य, रामानुजाचार्य, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, श्रीवत्सप्रेस, मद्रास ।

32. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

33. भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, मोतीलाल–बनारसीदास, वाराणसी ।

34. भागवतसम्प्रदाय, पं0 बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारणी सभा, काशी ।

35. भारतीय दर्शन, पं0 बलदेव उपाध्याय, शारदामंदिर, काशी ।

36. भारतीय दर्शन का इतिहास, डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त, राजस्थान ग्रन्थ अकादमी।

37. श्रीमद्भागवतमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

38. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

39. महोपनिषद्, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

40. महानारायणोपनिषद्, संस्कृत संस्थान, बरेली ।

41. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

42. मीमांसादर्शन, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

43. वाल्मीकि रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

44. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

45. वेदान्तदीप, आचार्य रामानुज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी ।

46. वेदार्थसङ्.ग्रह, रामानुज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

47. वैखानस आगम, तिरुमलाई तिरुपति देवस्थान ट्रस्ट, तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)

48. वैष्णवसम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास, श्री ए0 के0 आयङ्.कर ।

49. श्वेताश्वतरोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

50. शतदूषणी, वेदान्तदेशिक, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमालाा, काञ्ची ।

51. शतपथ ब्राह्मण, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

52. शिवपुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली ।

53. श्रीभाष्यश्रुतिप्रकाशिका, सुदर्शनसूरि, वेदान्तदेशिक विहार सभा, मैसूर ।

54. श्रीभाष्यतत्त्वटीका, वेदान्तदेशिक, उभय वेदान्तग्रन्थमाला, मद्रास ।

55. श्रीभाष्य, भाष्यार्थ दर्पण, वीरराघवाचार्य, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, मद्रास ।

56. श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्.करभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

57. श्रीमद्भगवद्गीता (रामानुज भाष्य) गीताप्रेस, गोरखपुर ।

58. श्रीमद्भगवद्गीता (रामानुजभाष्यतात्पर्यचन्द्रिकासहित) वेदान्तदेशिक, —आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना ।

59. श्रीमद्भगवद्गीता, (गूढार्थसंग्रहसहित), मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई।

60. स्त्रोत्ररत्न(आलवन्दारस्तोत्र) आचार्य यामुन, श्रीरङ्.गनाथ प्रेस, वृन्दावन ।

61. सिद्धित्रय, आचार्य यामुन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

62. आगमप्रामाण्य, आचार्य यामुन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

63. सिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली ।

64. सर्वदर्शनसङ्.ग्रह, माधवाचार्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

65. साङ्.ख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

* * * *
* *
*